वाद करने को मैं अपने आपको योग्य न समझता था पर महाराज की आज्ञा टालना भी दुष्कर था। आखिर कार ५ पन्न में टूटी फूटी भाषा में महाराज की अध्यक्षता में इसे लिख पूरा किया। अस्तु फिर भी कहीं कोई त्रुटि रह गई हो विद्वज्जन क्षमा करेंगे—ऐसी आशा है।

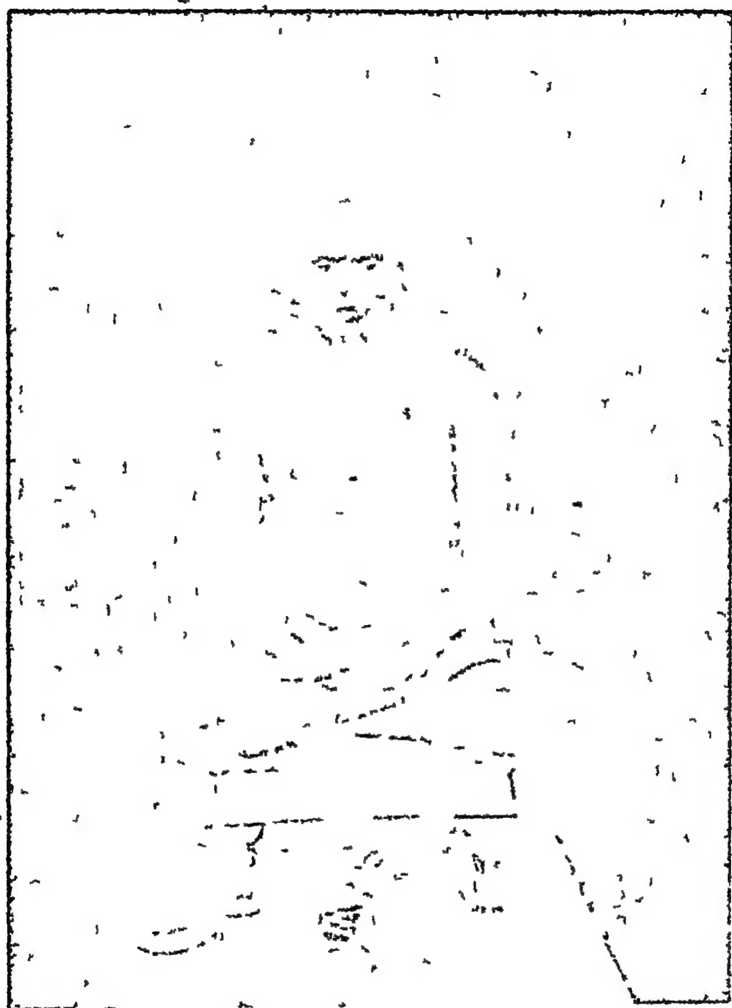
रोहतक। समाज का नम्र सेवक—

१८-१०-४१, रवीन्द्रनाथ जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री, हिंदी प्रभाकर

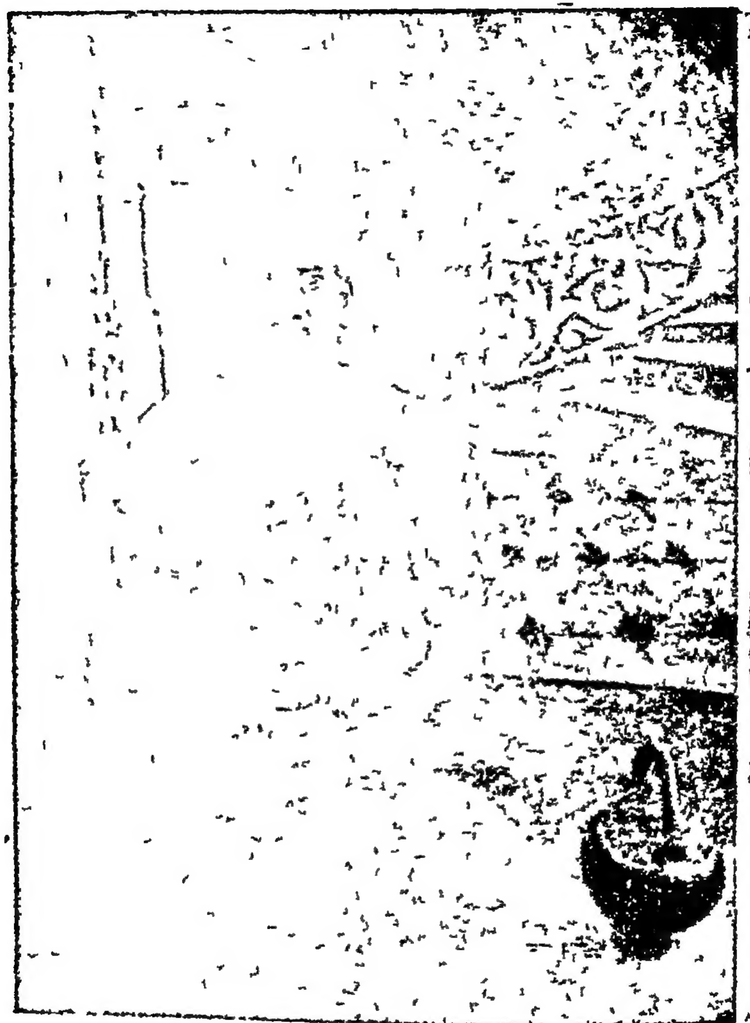
निवेदन—

यह ग्रंथ ला० जिनेश्वरदास सुपुत्र प० जौहरीमल जी जैन (गोहाना निवासी) रोहतक ने भक्ति भावना से युक्त हो अपने द्रव्य से छपवाकर पूज्य क्षुल्लक सूरिसिंह जी महाराज की सेवा में समर्पित किया है। इसका मूल्य केवल स्वाध्याय प्रेम आत्मलाभ है।





श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंह जी महाराज ग्रंथ कर्ता



श्री मुनीन्द्र-कुंथुसागर जी

जिनके चरण कमलों में ग्रन्थ समर्पण किया गया

समर्पण-पत्रिका



श्रीमदाचार्य तपोनिधि चारित्र चूडामणि मुनि रत्न ज्ञान भास्कर कुंथुसागर जी महाराज के चरण कमल में त्रिकरण शुद्धि सहित कायोत्सर्ग पूर्वक नमोस्तु ॥३

आपके कृपा प्रसाद से जो कुछ मैंने अपनी मंद बुद्धि से संस्कृत भाषा में लिखा है, उसके लिये आपका कृपा प्रसाद ही निमित्त कारण है इसलिये इस कृतिरूप पुस्तक को आपके ही कर-कमलों में अर्पण करता हूँ। आप स्वीकार करके अनुगृहीत करें।

आपका चरण कमल भृङ्ग

क्षुल्लक सूरिसिंह

* श्री सीमन्दरस्वामिने नमः

सम्यक्त्वादर्श

अर्थात्

चैतन्य ज्योति प्रकाश



सिद्धं बुद्धं शिवं शांतं दांतं तीर्थंकरं विभुं।
विरागं विमलानंदं वन्दे विज्ञानदानदं ॥१॥

अर्थ—सिद्ध, बुद्ध, (सर्वज्ञ) शिव, (कल्याण मय) शान्त (मोह और क्षोभ से रहित) दान्त (इन्द्रियों का दमन करने वाले) राग रहित, निर्मल (कर्म रहित) आनन्द स्वरूप, विज्ञान दान देने वाले विभु (ज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक मे व्याप्त) तीर्थंकर भगवान् को मैं (ग्रथकार) नमस्कार करता हूँ।

चिद्रूपं चिन्मयानंदं चैतन्यं चिच्चमत्करं।
चिच्चिन्हं चिन्मयालोकं चित्सुखं चेतये सदा ॥२॥

अर्थ—मैं चैतन्य स्वरूप, चिदानन्द मय, ज्ञान दर्शन की निरावरण ज्योति युक्त, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग मे

लक्षित, चैतन्य प्रकाश से परिपूर्ण, स्वाभाविक आत्मीक सुख स्वरूपी, शुद्ध आत्मा का सदा अनुभव करता हूँ।

वृषभाद्यतिवीरान्तान् चतुर्विंशतितीर्थकान् ।
सद्धर्मोद्धारकान् लोके वंदेऽहं भक्तिःभावतः ॥३॥

अर्थ—समीचीन (सत्य हितकारक) धर्म का उद्धार करने वाले ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों को मैं (ग्रन्थकार) भक्ति और भाव से नमस्कार करता हूं।

शारदां वरदां वंदे सद्विद्यादानदां सदा ।
अज्ञान नाशिनीं भक्त्या हृदये धारयाम्यहं ॥४॥

अर्थ—अज्ञान का नाश करने वाली, समीचीन ज्ञान को देने वाली ऐसी शुभफल प्रद शारदा (जिनवाणी) माता को हमेशा मै भक्ति से हृदय मे धारण करता हूँ।

रत्नत्रयं सदा वंदे जन्मार्तिमृत्युनाशनं ।
तद्भूषाकर्षिता मुक्तिः कामिनी कामतां व्रजेत् ॥ ५

अर्थ—जनम मरण रूपी रोग को नाश करने वाले रत्नत्रय धर्म को भी मै सदा नमस्कार करता हूँ। जिस रत्नत्रय को भूषा (सजावट-सतत शुद्ध चैतन्य चमत्कार) से

आकर्षित होकर मुक्ति रूपी स्त्री अविनश्वर आनन्द के लिये प्राप्त होती है।

अज्ञानाचारविध्वंसिन् सज्ञानाचारवर्द्धक ।
गुरुवर्य ! नमस्तुभ्यं शुद्धस्वरूपकारक ॥ ६ ॥

अर्थ—अज्ञानाचार का नाश करने वाले, समीचीन ज्ञानाचार को बढ़ाने वाले शुद्ध स्वरूप को प्रगट करने वाले हे गुरुवर्य ! आपके लिये नमस्कार करता हूँ।

सम्यक्त्वं सततं वंदे शुद्धस्वात्मानुभूतिकं ।
मुक्तिबीजं तदेवैकं संसारदुःखदाहकं ॥ ७ ॥

अर्थ—शुद्ध (विकल्प जाल रहित) आत्मा की अनुभूति मय सम्यक्त्व को मैं हमेशा नमस्कार करता हूं। एक वही सम्यग्दर्शन ही मुक्ति का कारण है, और ससार दुख को नाश करनेवाला है।

एक मेव हि सम्यक्त्वं परमं सुखसाधनम् ।
तन्निर्मलात्मसिद्ध्यर्थं ग्रंथोऽयं रच्यते मया ॥ ८ ॥

अर्थ—एक अकेला सम्यग्दर्शन सच्चे आत्मीक सुख का मुख्य कारण है। उस सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के लिये अर्थात् आत्मा को शुद्ध करने के लिये मैं ग्रंथकार इस "सम्यक्त्वादर्श" नामक ग्रँथ को बनाता हूँ।

यद्विना प्राप्यते क्वापि त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
सज्ज्ञानत्वं न केनापि यमिना सद्व्रतं तथा ॥९

अर्थ—तीन काल और तीन लोक मे सम्यग्दर्शन के विना इस जीव को न तो सम्यज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यक्चारित्र ही मिल सकता है।

दर्शनज्ञानवृत्तानि लभंते न महार्हतां ।
यद्विना न फलन्त्येते ध्यानाध्ययनादयः ॥१०

अर्थ—सम्यक्त्व के विना दर्शन ज्ञान और चारित्र सब निष्फल है अर्थात् मिथ्या कहलाते हैं। और सम्यक्त्व के विना ध्यान अध्ययन आदिक भी श्रेष्ठ फल दायक नहीं होते।

तत्त्वप्राप्तजनै र्लोकै र्दत्तचित्तैः सुपंडितैः ।
क्रियते सफलं जन्म साधितं तैश्च चित्सुखं ॥११

अर्थ—जिन्होंने सम्यग्दर्शन को पालिया है और आत्म अनुभव की ओर मन लगाया है ऐसे विवेकी पुरुषों ने ही अपने मनुष्य जन्म को सफल कर शाश्वत चैतन्य सुख को प्राप्त किया है।

सम्यक्त्वं हि सदाराध्यं स्वात्मसौख्याभिलाषिभिः
प्रमादालसतन्द्राणां कृत्वा त्यागं सदोत्सुकैः ॥१२

अर्थ—इसलिये आत्मीक सच्चे सुख के चाहने वाले पुरुषों को उत्साह के साथ शीघ्र ही प्रमाद (अतः कषाय) आलस और तन्द्रा का त्याग कर सम्यक्त्व की सदा आराधना करना चाहिये अर्थात् सच्चे आत्मस्वरूप मे तन्मय होना चाहिये।

सम्यक्त्वेन समं नास्ति जीवानां हितकारकं।
त्रैकाल्ये त्रिजगत्यस्मिन् चान्यद्वस्तु कदाचन॥१३

अर्थ—तीन काल और तीन लोक में प्राणियों का हित करने वाला सम्यक्त्व के समान और कोई पदार्थ नहीं है।

सम्यक्त्वं भूषणं श्रेष्ठमात्मनो भूषणेषु च।
नात्मापि श्रेष्ठतां याति तद्विनासौ कदाचन॥१४

अर्थ—आत्मा के लिये सब भूषणों में सम्यक्त्व ही सबसे श्रेष्ठ आभूषण है। उस सम्यक्त्व के बिना यह आत्मा कभी भी श्रेष्ठ (शुद्ध स्वभावमय नित्यसुख युक्त) नहीं हो सकता।

सम्यक्त्वमेकमेवः स्यात् सर्वेषां गुणशालिनां।
विकारनाशने शक्तं तस्मात्तद्धृदि धार्यताम्॥१५

अर्थ—सम्पूर्ण गुणशाली विवेकी भव्य पुरुषों के विकार (सांसारिक खराबियों) नाश करने के लिये एक सम्यक्त्व ही समर्थ है। इस लिये इसे सदा हृदय में धारण करना चाहिये।

जल हीना यथा वापी कासारः कमलं बिना।
गंध हीनं यथा पुष्पं दंती दंतंविना यथा ॥ १६

अर्थ—जैसे जल के विना बावडी शोभा नहीं देती, कमल के विना तालाव शोभा नहीं देता, खुशबू के विना फूल अच्छा नहीं लगता तथा दाँतों के विना जैसे हाथी अच्छा नहीं मालूम पडता:—

देहोपि शोभते यद्वदात्मानं न बिना भुवि।
व्यंजनं न विना स्वाद्यं लवणेन विना कदा॥ १७

अर्थ—जैसे जीव के विना मृतक शरीर अच्छा नहीं लगता. और नमक के विना कोई भी अच्छे से अच्छा व्यंजन स्वादु नहीं प्रतीत होता।

तद्वदेव न शोभन्ते गुणाः सर्वे हि चात्मनः।
सम्यक्त्व रहिताः संति निःसाराः किंशुका इव॥ १८

अर्थ—ऊपर के दो श्लोकों के दृष्टान्तों की तरह सम्यक्त्व के बिना आत्मा के अन्य शेष गुण नहीं शोभा पाते जैसे गन्धहीन टेसू के फूल शोभा नहीं पाते हैं।

सम्यक्त्वेन विना सर्वे संसारे परिवर्त्तने।
पंचप्रकारसंयुक्ते भ्रमन्ति भ्रमणाकुला: ॥१९

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव रूप पच परावर्त्तन शील इस संसार मे सम्यक्त्व के बिना सब जीव अनादि भव भ्रमण से दुखी होकर घूम रहे हैं।

येषां न सम्यक्त्वगुणप्रधानं।
तेषां न तीर्थं न तपो जपश्च ॥
धर्मो न दानं नहि शीलसौख्य।
योगं न भोगं नहि ध्यानविद्या ॥२०

अर्थ—जिस आत्मा के पास सर्वगुणों में श्रेष्ठ सम्यक्त्व गुण नहीं है उनका तीर्थ जाना, जप करना, तप करना, धर्म करना, दान देना, शील पालना, सुख भोगना, योग करना, भोग करना, ध्यान करना, विद्या पढना सब निष्फल हैं।

सम्यक्त्वेन विना सर्वे नरा अमरखेचरा:।
श्रेष्ठत्वं न कदा कापि प्राप्नुवन्ति न संशय: ॥२१

अर्थ—सम्यक्त्व के बिना देव मनुष्य विद्याधर कोई भी श्रेष्ठ (सच्चे नित्य सुख पाने वाले) नहीं हो सकते इसमें तनिक भी संशय नहीं।

ज्ञातमेक हि सम्यक्त्वं वरं मांगल्यकारणं।
संसारे सारमेकं स्यात् कर्मारण्यसुदाहकं ॥२२

अर्थ—इस तरह से यह अच्छी तरह से स्पष्ट है कि एक सम्यक्त्व ही श्रेष्ठ है, मंगल (पाप नाश करने सच्चे सुख को) करने वाला है, कर्म रूपी वन को जड़ मूल से जलाने वाला है और यही एक संसार में सार है।

सम्यक्त्वस्य स्वरूपं किं तल्लक्ष्म क्व च तिष्ठति।
केनोपायेन तत्प्राप्तिः शक्तिभेदफलानि च ॥२३

अर्थ—उस सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है? क्या उसका लक्षण है? वह किस अवस्था में जीव के होता है? किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है? उसकी शक्ति क्या है? भेद क्या हैं? क्या उसका फल है?

इस प्रकार शंका उठा कर ग्रंथकार उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

सम्यक्त्वस्य यथा योग्यं पूर्वशास्त्रानुसारतः।
वक्ष्ये सर्वं स्वरूपादिफलांतः क्रमशो यथा ॥२४

अर्थ—सम्यक्त्व के स्वरूपादिक को यथाक्रम पूर्व आचार्य परम्परानुसार सब कुछ आगे मैं (ग्रंथकार) वर्णन करता हूं।

सावधानतया सर्वं कथनं क्रियते मया।
प्रमादाद्धि विरुद्धं यत् तन्नग्राह्यं विचक्षणैः ॥२५

अर्थ—अब आगे सावधानता पूर्वक सम्यग्दर्शन का वर्णन किया जायगा। फिर भी प्रमाद से या अज्ञान से यदि कहीं कोई बात विरुद्ध होगई हो तो विद्वान पुरुषों को चाहिये कि उसे न ग्रहण करें। क्योंकि सत रूपी हम उसही बात को ग्रहण करते हैं जो युक्ति आगम और अनुभव से ठीक मालूम देती हो।

अनादाविह संसारे नानायोनिसमाकुले।
जीवोऽयं कर्मसंबंधात् बंभ्रमीति ह्यनादितः॥ २६

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव रूप पंच परावर्त्तनों से अनादि और अनेक प्रकार योनियों (८४ लाख जीव उत्पत्ति स्थानों) से भरपूर इस संसार में कर्म के साथ अनादि सम्बन्ध जीव का होने से यह संसारी जीव अनादि काल से भ्रमण कर रहा है।

जीवेन सह संवंधः कर्मणां केन कारणात् ।
वभूव कथ्यताम् स्वामिन् तत्वातत्व निरूपक ! २७

अर्थ—शिष्य गुरु से प्रश्न करता है. कि हे तत्व अतत्व (सत्य असत्य) का उपदेश करने वाले स्वामिन् कृपा कर यह वतलाइये कि चेतन जीव के साथ अचेतन कर्म का सम्बन्ध किस कारण से हुआ ।

एक सरीखी वस्तुओं का सम्बन्ध संसार मे प्रसिद्ध है पर भिन्न दो स्वभाव वाली जड चेतन वस्तुओं का सम्बन्ध कैसे होगया ?

अनादितः स्वयं बंधो निमित्तात् कारणाद्विना ।
तस्यास्तित्वं स्वयं सिद्धं हेमोपलमलं यथा ॥ २८

अर्थ—जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर खानि में स्वर्णपाषाण (सोना) और मैल का सम्बन्ध अनादि काल से अपने आप स्वय सिद्ध है उसे किसी ने किया नहीं उसी प्रकार जीव और जड़ कर्म का सम्बन्ध भी अनादि काल से निमित्त कारण के विना अपने आप स्वय सिद्ध है, उसे भी किसी ने कभी पहिले नहीं किया ।

कर्मजीवावुभौ भिन्नावभिन्नौ कथ्यतां प्रभो ।
भिन्नो वा यदि संबंधः स्वयं सिद्धः कथं मतः ॥२६

अर्थ—शिष्य फिर कहता है कि हे स्वामिन् ! कृपा कर यह बतलाइये कि इस संसार में जीव और कर्म जब दो सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं—फिर उन भिन्न पदार्थों मे सर्वथा भिन्न संबंध अपने आप किस प्रकार होगया भावार्थ वैशेषिक दर्शन मे संबंध नाम का एक स्वतंत्र पदार्थ माना है ऐसा सर्वथा भिन्न संबंध सर्वथा भिन्न वस्तुओं में कैसे हो सकता है यही शिष्य का प्रश्न है।

जीवाजीवादिद्रव्याणि सर्वाणि पृथगानि च ।
एकक्षेत्रावगाह्यानि ह्यनादिकालतो भवेत् ॥ ३०

अर्थ—१ जीव और ५ अजीव (पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल) ये ६ द्रव्य सब के सब परस्पर संज्ञा लक्षण आदि से भिन्न २ हैं फिर भी अनादि काल से ये सब द्रव्य एक ही क्षेत्र मे रह रहे हैं इसलिए इनका परस्पर एक क्षेत्रावगाहि सम्बन्ध व्यवहार नय से माना जाता है। संसार में जिनका संज्ञा लक्षण भिन्न होता है वे भिन्न द्रव्य माने जाते हैं इसी तरह ये चेतन अचेतन द्रव्य भी परस्पर भिन्न हैं फिर भी एक क्षेत्र मे रहने से व्यवहार से इनका सम्बन्ध कहा जाता है।

व्यवहारेण चोक्तानि निश्चयेन नयेन तु ।
सर्वाणि पृथगान्येव ह्यन्यत्वगुणत्वतः ॥ ३१

अर्थ—व्यवहार नय से एकाक्षेत्रावगाहि सम्बन्ध वता कर निश्चय नयसे कहते हैं। निश्चय दृष्टिसे ये समस्त द्रव्य परस्पर भिन्न २ ही हैं क्योंकि उनमे सामान्य गुण अस्तित्वादिक एक जैसे होते हुये भी विशेषगुण एक दूसरे के सर्वथा भिन्न हैं।

अनादिकालतो वंधः स्वयंसिद्धः स्वतो मतः ।
स्वयं वंधो हि यो वंधो नूनं दुर्मोचको भवेत् ॥३२

अर्थ—शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे स्वामिन् आपने जीव और कर्म का जो अनादि कालीन स्वय सिद्ध वंध (सम्वन्ध) वताया है, सो स्वय सिद्ध सम्वन्ध फिर कभी भी किसी प्रकार नहीं छूट सकता है।

अर्थात् जो अनादि कालीन और विना निमित्त के वंध होगा वह सदा रहेगा—कभी भी नहीं छूटेगा फिर मोक्ष कैसे होगा ?

सत्यं प्रोक्तं त्वया शिष्य ! किन्तु नालोचितं सता ।
वुद्धया विचार्यमाने तु शङ्का दूरतरा भवेत् ॥३३

अर्थ--गुरुवर्य कहते हैं कि हे भव्य शिष्य तुमने अनादि कालीन स्वय सिद्ध बंध मे जो शका उठाई है वह ठीक है पर अच्छी तरह सोच विचार कर नहीं की है सम्यक बुद्धि से अच्छी तरह विचार करने से यह शका भी बिलकुल दूर हो जाती है।

वंधोऽपि द्विविधःप्रोक्तः संयोगःसमवायकः।
संयोगो हि पदार्थाणां भिन्नानां भिन्नशक्तिकः॥३४

अर्थ—बंध सम्बन्ध दो प्रकार का होता है १ सयोग सम्बन्ध २ समवाय सम्बन्ध। इन दो प्रकार के सम्बन्धों में सयोग सम्बन्ध परस्पर भिन्न २ पदार्थों में ही होता है। क्योंकि वह भिन्न शक्ति वाला है।

प्राय: कर सब मत मतान्तर यही मानते हैं कि परस्पर मे सर्वथा भिन्न पदार्थों मे संयोग सम्बन्ध होता है।

समवायो भवेद्वन्धः स्वद्रव्ये धर्मधर्मिणोः।
अभिन्नानां तु सर्वेषां ह्यनाद्यनिधनो मतः॥३५

अर्थ—दूसरा समवाय सम्बन्ध एक ही द्रव्य के धर्म धर्मी में गुण गुणी मे होता है, जो धर्म और धर्मी

अभिन्न हैं एक हैं उनमें ही समवाय सम्बन्ध होता है। अभिन्न वस्तु व उनके धर्मों का जो कुछ परस्पर संबंध होता है वह अनादि निधन होता है अर्थात् कभी नहीं टूटता।

संयोगो यद्यपि प्रोक्तोप्यनादिकालकस्तथा।
नाशत्वमुपपद्येत केनचित्कारणेन वा ॥ ३६

अर्थ—गुरुवर्य कहते हैं कि स्वर्णपाषाण और मैल की तरह जीव और कर्म का भिन्न दो वस्तु होने से सयोग सम्बन्ध है और वह अनादि काल से है। फिर भी कारण विशेष मिलने पर वह सयोग सम्बन्ध नाश को प्राप्त हो जाता है।

स्वयं बंधो निमित्तेन विनाशत्वं कथं व्रजेत्।
न चाशंक्यं स्वयंबंधो निमित्तेन विनाशयेत् ॥३७

अर्थ—अनादि कालीन स्वयंसिद्ध बध निमित्त कारण मिलने पर नाश को किस प्रकार प्राप्त हो जाता है इस प्रकार की शका भी हृदय में नहीं लाना चाहिये। स्वय सिद्ध अनादि कालीन बंध निमित्त कारण मिलने पर नष्ट हो जाता है इस बात को आगे दृष्टान्त द्वारा प्रगट करते हैं।

स्वयंबंधो हि वृक्षस्य पत्रपुष्पफलादिनां ।
निमित्तेन विनाशत्वं प्राप्यते स्वयमेव वा ॥ ३८

अर्थ—देखो वृक्ष पत्र पुष्प फल आदिक का परस्पर में स्वय सिद्ध सम्बन्ध है किसी के द्वारा कभी किया नहीं गया जैसे आम के वृक्ष का आम के पत्ते फूल फल से संबंध कभी किसी ने नहीं किया अपने आप ही हो रहा है. फिर भी निमित्त कारण मिलने पर वह बंध मिट भी जाता है जैसे कोई पुरुष वृक्ष से आम तोडले तो आम फल का आम से संबंध छूट जाता है। अथवा कभी काल लब्धि आने पर अपने आप ही संबंध मिट जाता है जैसे फल के पक जाने पर पेड से वह गिर जाता है।

वंधस्य कारणं प्रोक्तं चाज्ञानं विपरीतकं ।
संशयानध्यवसानं तथान्यं जिनभाषितं ॥ ३९

अर्थ—गुरु कहते हैं कि जीव और कर्म का जो अनादि कालीनबंध हो रहा है उसका कारण अज्ञान या पर में आपा मानना है। तथा जिन भगवान ने और भी संशय विपर्यय अनध्यवसाय आदि कारण उस कर्म संबंध के बताये हैं जीव की अपने विषय में संशय विपरीत और अज्ञान बुद्धि ही कर्म संयोग का कारण है।

मिथ्यात्व मूल मज्ञानं स्वपरज्ञाननाशकं ।
स्वपराज्ञानतो वंधो भवत्येव नियोगतः ॥ ४०

अर्थ—इस अज्ञान का मूल कारण भी मिथ्यात्व है पर मे आपा मानना है, यही मिथ्यात्व अपने (आत्मा) और पर (आत्मा से भिन्न पदार्थों) के ठीक २ ज्ञान का नाश करनेवाला है । इसी भेद विज्ञान (स्व परका यथार्थ ज्ञान) न होने ही नियम से अनादि काल से कर्म का वंध हो रहा है ।

यत्रयत्र तु चाज्ञानं तत्र मिथ्यात्वमेव च ।
समव्याप्तिद्वयोरेव चान्वयव्यतिरेकिनो ॥ ४१

अर्थ—जहाँ जहाँ अज्ञान होता है वहाँ वहाँ मिथ्यात्व होता है, जहाँ अज्ञान नहीं है वहाँ मिथ्यात्व भी नहीं होता है इस तरह इन दोनों मिथ्यात्व व अज्ञान में समव्याप्ति है ये दोनों अन्वय व्यतिरेकी हैं । किसी एक के होने पर होना इसे अन्वय कहते हैं, इसको ही सम-व्याप्ति कहते हैं यह अज्ञान व मिथ्यात्व में पाई जाती है।

मिथ्यात्वं परमं वीजं संसारस्य चतुर्गतेः ।
परावर्त्तनरूपस्य पंच संख्यायुतात्मनः ॥ ४२

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव इन पच प्रकार के परिवर्त्तनों से युक्त मनुष्य देव नरक तिर्यंच चार गति रूप संसार का मिथ्यात्व ही मुख्य कारण है अर्थात् ससार की चारों गतियों में यह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व के कारण से अनादि काल से पंच पगावर्त्तनों को कर रहा है अतः मिथ्यात्व ही ससार का कारण है।

मिथ्यात्वतो भवेन्नूनं ममत्वं जायते परे।
ममत्वं हि परं दुःखं भवबंधविवर्धनं ॥ ४३

अर्थ—मिथ्यात्व के कारण इस जीव की पर वस्तु में ममता होती है यह ममता ही सबसे बड़ा दुख है और ससार के कर्मबंध को बढ़ाने वाला है।

अर्थात् जो वस्तु अपनी नहीं है उनमें "यह मेरी है, मैं इनका हू" इस प्रकार अहकार ममकार कर जीव ससार मे भटक रहा है, इस ममता की जड मिथ्यात्व है।

ममत्वाज्जायते रागः परासक्तिविभावकः।
विषयासक्तिरूपश्च स्वात्मसौख्यपराङ्मुखः ॥ ४४

अर्थ—ममता से परवस्तुओं में राग भाव पैदा होता है ममता न हो तो राग हो ही नहीं सकता। और यह पद पर द्रव्य में आसक्ति (रागभाव) ही जीव का विकार

परिणाम है। इस रागभाव से पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्ति होती है, गाढ रति होती है। पचेन्द्रियों के विषयों मे आसक्त होने से जीव अपने आत्मीक शाश्वत सुखसे विमुख हो जाता है।

रागाद्धि जायते लोभः स्वधर्मस्य विनाशकः।
त्रैलोक्यं गिलने दंष्ट्रा सर्वाश्रवपिता तथा॥ ४५

अर्थ—राग भाव से जीव को लोभ (परको अपनाने की चाह गृध्नता) पैदा होती है। पर वस्तु की चाह ही आत्मधर्म को नाश करने वाली है। यह राग परिणति ही तीन लोक को निगलने के लिये दाढ़ है अर्थात् तीन लोक इसके वश में हो रहा है। और सम्पूर्ण कर्मों के आने के लिये यह राग परिणति पिता है। अर्थात् इससे ही कर्मों का आश्रव है।

लोभराक्षसरूपो हि विषयामिषखादकः।
अधर्मवनसंचारी गुणसत्त्वौघनाशकः॥ ४६

अर्थ—यह लोभ राक्षस सरीखा है जैसे राक्षस मांस को खाते हैं उसी तरह यह भी विषय (पचेन्द्रिय विषय रूपी) मांस को खाने वाला है। जैसे राक्षस वनमें फिरते हैं उसी तरह लोभ भी अधर्म रूपी वनमें घूमने वाला है

और जैसे राक्षस में अच्छे २ गुण नहीं होते उसी तरह लोभ के कारण भी समस्त अच्छे गुण नाश हो जाते हैं।

लोभाद्धि जायते द्वेषो रौद्रवान्हिभयानकः ।
समतालय विध्वंसी स्वात्म सौख्य विदाहकः ॥४७

अर्थ—लोभ से द्वेष (वैर क्रोध) पैदा होता है जिस वस्तु से ममता होती है उसके छीनने वाले से वैर क्रोध होता है। यह क्रोध रूपी आग बडी भयानक है। समता मन्दिर का नाश करने वाली है अर्थात् क्रोध आने पर परिणामों में समता नहीं होती। तथा लोभ अपने आत्मीक सुख को मिटाने वाला है।

ममत्वाज्जायते रागो रागाल्लोभश्च जायते ।
लोभाद्धि जायते द्वेषो द्वेषाद्दुःखपरंपरा ॥ ४८

अर्थ—ममता से राग पैदा होता है, और रागभाव से लोभ पैदा होता है, लोभ से द्वेष पैदा होता है और द्वेष के कारण ही जीव को इस लोक परलोक में नाना प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है इसलिये सब अनर्थों की जड़ मिथ्यात्व मूलक यह ममता भाव है।

सर्वदुःखसमूहानां मूलं मिथ्यात्वमुच्यते ।
तस्माद्भो ! त्यज मिथ्यात्वं भज सम्यक्त्वमुत्तमं ४६

अर्थ—इस संसार में सम्पूर्ण दुःखों का कारण एक मिथ्यात्व ही है इसलिये हे भव्य जीवो ! तुम इस मिथ्यात्व को छोड़ो और सम्यक्त्व की शरण प्राप्त करो। यही लोक में उत्तम है इसी से अपने निज शाश्वत स्वरूप की प्राप्ति होती है कर्मकी अनादिकाल की बेडी टूटती है।

मिथ्यात्वेन समं नास्ति जीवानां दुःखदायकं ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यजिघृक्षुणा ॥ ५०

अर्थ—इस संसार में मिथ्यात्व के समान जीवों को दुख देने वाला अन्य कोई नहीं है। यही सबसे बड़ा वैरी है इसी कारण वह जीव अनादिकाल से संसार में चक्कर लगा रहा है और तरह तरह के दुख पा रहा है। इसलिये मोक्ष सुख के अभिलाषी जीवों को इसे शीघ्र ही छोड़ देना चाहिये इसी में परम कल्याण है।

अनादिकालतः शक्तिः कर्मणां विपुला मता ।
जीवस्याल्पतरा शक्ति रित्यवस्थात्मकर्मणोः ॥५१

अर्थ—इस अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव ने अनादिकाल से कर्म को बड़ी भारी शक्ति वाला माना हुआ है, तथा जीव को कर्म की अपेक्षा हीन शक्ति वाला माना हुआ है। इस प्रकार आत्मा और कर्म की अवस्थायें हो रही हैं। अपने को हीन शक्तिवाला और कर्म को अपने से अधिक शक्ति वाला समझने से ही यह कर्मों को नहीं काट सका तथा मोक्ष को नहीं पा सका।

व्यक्तापेक्षतया प्रोक्तं शक्त्यपेक्षतया नहि।
व्यक्ता कालक्रमेणैव शक्ति र्हि जायते द्वयोः॥५२

अर्थ—मिथ्यात्वी जीव के विचार अनुसार समस्त जीवों में कर्म का ही विस्तार नज़र आ रहा है। कर्म जैसा नचाता है जीव वैसा नाचता है इस प्रकार कर्म को स्थूल व्यक्त दशा की अपेक्षा व्यवहार से बड़ा मान लिया गया है यथार्थ में शक्ति की अपेक्षा कर्म आत्मा से बलवान् नहीं है जिससे वह काटा न जासके क्योंकि आत्मा अनंत शक्तिवाला है। उन दोनों जीव और कर्म की शक्ति का विकास क्रम से ही होता है। कभी कर्म जीव को नचाता है तो कभी आत्मा शुद्ध अनुभव कर कर्मों को नाश करने के लिये कमर कसता है—इस प्रकार काल क्रमसे ही शक्ति व्यक्त होती है।

अनादिकालतो जीवो मिथ्याभावनया पुनः ।
कर्मैव बलवल्लोके मत्वैवं भयतां व्रजेत् ॥ ५३

अर्थ—अनादिकाल से इस संसारी जीव के मिथ्या भावना (परमें आत्मबुद्धि) लग रही है। उस मिथ्या-भावना से यह जीव कर्म को ही बलवान् समझ रहा है-और कर्म के आगे अपने को असमर्थ जान भय कर रहा है। ससार में बलवान् से सबही डरते हैं इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव कर्म को अपने से बलवान् समझ उससे डर रहा है और उसके नाश के लिये उद्यम नहीं कर रहा है।

पुद्गलानंतगुणिता शक्ति जींवस्य विद्यते ।
तन्निश्चयेन तद्व्यक्तेः काललब्धिस्तु कारणं ॥५४

अर्थ—यथार्थ में पुद्गल से जीव में अनंत गुणी शक्ति पायी जाती है। मिथ्यादृष्टि जीव इस बात को समझता ही नहीं। इस वास्ते कर्म नाश करने का उद्यम नहीं करता जीव की उस शक्ति का विकास काल लब्धि होने पर ही होता है। जब तक करण लब्धि होने योग्य काल लब्धि नहीं होती तब तक जीव की अनंतगुणी शक्ति प्रगट नहीं होती।

दृङ्मोहस्योदयो यावत् तीव्रस्तीव्रतरो भवेत् ।
तावत्कालं हि जीवस्य भद्रत्वं नोपपद्यते ॥५५

अर्थ—जब तक इस संसारी जीव के गाढ़ दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक जीव के भद्रता (सम्यक्त्व प्रगट होने की योग्यता) नहीं होती। सम्यक्त्व उत्पत्ति में दर्शन मोह ही बाधक है जब उसका बंधन ढीला होने लगता है तब ही जीव सम्यक्त्व के सम्मुख होता है, तीव्र उदय होने पर नहीं होता है।

नाभद्रो हि कदा कापि वस्तु विज्ञान बोधतां ।
अयोग्यत्वाद् भवाम्भोधौ देशनां लभते नहि ॥५६

अर्थ—जब तक दर्शन मोहनीय के तीव्र उदय होने के कारण जीव मे भद्रता नहीं आती, तब तक वह पदार्थ के यथार्थ ज्ञान (भेद विज्ञान) को पाने के योग्य नहीं होता, वह तो इस संसार रूपी समुद्र में सच्चे गुरु के उपदेश पाने के योग्य भी नहीं हो सकता। उसे सच्चे गुरुओं का मिलना दुर्लभ है, यदि ऐसे गुरु मिल भी जाय तो जैसे छलनी में पानी नहीं ठहरता उसी प्रकार उसके हृदय में समीचीन देशना नहीं रहती।

सद्धर्मद्वेषबुद्ध्या तु चाधर्मं लभते सदा।
सद्देशनातिरस्कारं विभावे कुरुते रतिं॥ ५७

अर्थ—दर्शन मोहनीय के तीव्र उदय से संसारी जीव समीचीन धर्म से तो द्वेष करता है और सदा अधर्म को ही ग्रहण करता है। सच्चे गुरुओं के उपदेश का तिरस्कार (अनादर) करता है, और परपरिणति में आनन्द मानता है।

सद्देशनां विना जीवो तत्वज्ञानं न गच्छति।
कुदेशना हि जीवस्य संसारपरिवर्द्धिनी॥ ५८

अर्थ—जब तक यह मिथ्यात्वी जीव सच्चे उपदेश से मुंह मोड़ता रहता है तब तक इसे तत्त्व ज्ञान (भेद विज्ञान, स्वानुभूति) नहीं हो सकती। वह तो सदा खोटे उपदेश को ही ग्रहण करता रहता है जो खोटा उपदेश ससार के भव भ्रमण को वढाने वाला है।

तत्वातत्वे न जानाति धर्माधर्मौ विशेषतः।
लोके सत्यमसत्यञ्च तस्माद्बुद्धिर्विपर्यता॥ ५६

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव तत्व (स्व-आत्मा) अतत्व (आत्मा से भिन्न पर वस्तु) को नहीं समझता है।

धर्म और अधर्म का उसे पता नहीं होता। इस ससार में सत्य और असत्य का निर्णय वह नहीं कर सकता इसी कारण उसकी बुद्धि विपर्यय रहती है। जैसे शराब पीने वाला नशे के कारण अच्छा बुरा कुछ नहीं समझता इसी तरह मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व के नशे से तत्व-अतत्व धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, कुछ नहीं समझता।

तथापि प्राप लब्धिं सो देशनां दैवयोगतः।
दुर्लभं वस्तुविज्ञानं नो भवेत् करणं विना ॥ ६०

अर्थ—मिथ्यादृष्टि कभी कदाचित् किसी शुभ कर्मोदय से किसी सच्चे गुरु के उपदेश को पा भी ले, पर दुर्लभ करण लब्धि के विना वस्तु विज्ञान (भेद विज्ञान) होना असभव है।

भावार्थ—सम्यक्त्व होने से पूर्व जीव के ५ लब्धियाँ (अवस्था विशेष) होती हैं। १ क्षयोपशम २ विशुद्धि देशना ४ प्रायोग्य ५ करण लब्धि।

१. क्षयोपशम में अशुभ कर्मों का परिणाम विशेष द्वारा उपशम क्षय क्षयोपशम होने लगता है।
२. विशुद्धि लब्धि में प्रति समय परिणामों में विशुद्धि होती जाती है।

३. देशना लब्धि में सच्चे गुरु का उपदेश लाभ होता है।

४. प्रायोग्य लब्धि में पूर्व मे बंधे कर्मों की स्थिति अतः कोडा कोड़ी हो जाती है और आगामी बंधने वाले कर्म भी अन्तः कोड़ा कोड़ी स्थिति वाले बधते हैं इस प्रकार योग्यता प्राप्त हो जाती है।

५. करण लब्धि में ३ करण होते हैं। १ अधः करण (जिसमें नीचे के परिणामों के साथ सदृशता भी रहे और कुछ परिणामों की बढ़ती भी होती रहे। २ अपूर्व करण जिसमें एक समय वाले जीवों के साथ परिणाम मिल भी सकते हैं और नहीं भी मिलते हैं पर भिन्न समय वाले जीवों के परिणामों के साथ समानता बिल्कुल नहीं होती। ३ अपूर्व करण (जिसमें एक समय में जीवों के परिणाम एक ही होते हैं।

करण लब्धि में प्रति समय अनत गुणी निर्जरा होती है इन लब्धियों में चार लब्धियां तो पाना इतना कठिन नहीं है पर करण लब्धि का पाना अत्यन्त दुर्लभ है। इसके बिना अन्य लब्धियां विशेष कार्यकारी नहीं। करण लब्धि के होने पर ही वे सफल होती हैं। सम्यक्त्व उत्पत्ति करण लब्धि के बाद नियम से होती है।

देशनादिचतुष्कं च भव्याभव्येषु वर्त्तते ।
सम्यङ्मिथ्यात्वतां याति तस्मात् कार्यकरं नहि ६१

अर्थ—इन ५ लब्धियों में क्षयोपशम विशुद्धि देशना प्रायोग्य ये ४ लब्धियां तो भव्य के भी हो सकती हैं और अभव्य के भी हो सकती हैं । इन चारों के कारण सम्यक्त्व तो नहीं होता किन्तु सम्यङ् मिथ्यात्व रूप आचरण होता है, वह आत्मा के लिये कुछ कार्यकारी नहीं है ।

देशानादिचतुष्कानां सम्यक्त्वेन समा क्वचित् ।
समव्याप्ति तथा नास्ति व्यतिरेकापि वस्तुतः ६२

अर्थ—देशना आदिक चार लब्धियों की सम्यक्त्व के साथ न तो समव्याप्ति है, और न व्यतिरेक व्याप्ति ही है ।

होने पर होने को सम या अन्वय व्याप्ति कहते हैं ।
न होने पर न होने को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं ॥

सम्यक्त्व के होने में ये चारों देशनादिक अवश्य होती हों यह बात नहीं, क्योंकि अकेली करण लब्धि से सम्यक्त्व हो जाता है । अतः सम व्याप्ति चारों की सम्यक्त्व के साथ नहीं है । तथा सम्यक्त्व के न होने पर

भी चारों देशनादिक न होती हों यह बात भी नहीं है, क्योंकि अभव्य में सम्यक्त्व के न होने पर भी चारों तर्क हो सकती हैं अतः व्यतिरेक व्याप्ति भी नहीं है। अतः ये चारों सम्यक्त्व के लिये विशेष कार्यकारी नहीं हैं।

पौरुषेन लभंते ते चत्वारा देशनादयः।
निमित्तेन न लभ्यं स्यात् करणं कारणादिना ६३

अर्थ—चारों देशनादिक लब्धियां जीव के पुरुषार्थ या प्रयत्न करने पर हो सकती हैं गुरु आदिक का उपदेश पुरुषार्थ से प्राप्त हो सकता है, पर करण लब्धि निमित्त कारण आदि के जुटाने से नहीं होती।

लभ्यते करणं केन कथ्यतां हितदेशक!
तज्ज्ञातुं चाऽऽतुरो भूये तत्वज्ञानार्थ मेव च॥६४

अर्थ—शिष्य प्रश्न करता है:—हे हित का उपदेश करनेवाले गुरुदेव! कृपा कर यह बतलाइये कि इस करण लब्धि को पाने वाला कौन होता है, मैं इस बात को जानने के लिये बड़ा बेचैन हो रहा हूं। मेरा यह प्रश्न तत्वज्ञान करने के लिये ही है।

सुष्ठु पृच्छोसि भो भद्र ! हिताहितपरीक्षक !
यथार्थं कथ्यते श्रेष्ठं करणं मोक्ष कारणं ॥ ६५

अर्थ—महाराज कहते हैं:—हे हित अहित (अच्छे बुरे की) परीक्षा करने वाले भद्र ! (विनयवान् सरल-परिणामी) शिष्य ! मैं तुम्हें मोक्ष की कारण श्रेष्ठ करण लब्धि के स्वरूप को ठीक २ कहता हूं।

दृङ्मोहस्योदय स्तीव्र आगतोऽनादिकालतः ।
तत्प्रशमैकहेतु र्न पौरुषः कोऽपि विद्यते ॥ ६६

अर्थ—इस जीव के अनादि कालसे दर्शन मोहनीय कर्म का तीव्र उदय हो रहा है. उस दर्शन मोहनीय कर्म के नाश करने के लिये जीव का कोई भी पुरुषार्थ (प्रयत्न) समर्थ नहीं है दर्शन मोहनीय का नाश करण लब्धि से होता है वह करण लब्धि प्रयत्न से न होकर काल लब्धि आने पर ही होती है।

केनोपायेन भूयाद्भो ! प्रशमो मोहकर्मणः ।
वर्तते कोप्युपायो न दुर्वारं मोहवारणं ॥ ६७

अर्थ—उस दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम क्षय क्षयोपशम हे गुरुवर्य ! किस उपाय से हो सकता है ऐसा

शिष्य का प्रश्न होनेपर आचार्य फिर कहते हैं कि मोहनीय कर्म का परदा बड़ा कठिन है वह आसानी से दूर नहीं होता उसके दूर करने के लिये कोई भी उपाय काम नहीं देता।

करणं काललब्धिस्तु दृङ्मोहस्योपशाम्यता।
तद्विना नहि केनापि शमनं जगतीतले ॥ ६८

अर्थ—करण लब्धि, काल लब्धि, या दर्शनमोहनीय का उपशम ये एकार्थ वाची शब्द है। काल लब्धि होने पर ही करण लब्धि या दर्शन मोहनीय का उपशम होता है काललब्धि आये विना इस संसार में कोई भी दर्शन मोहनीय का उपशम नहीं कर सकता।

अर्द्धपुद्गलमाणो हि वर्तते चावशेषकः।
कालो मोक्षस्य यावत्तु कालब्धिस्तु कथ्यते ॥ ६९

अर्थ—अर्ध पुद्गल परावर्त्तन काल जब बाकी रह जाय वही मोक्ष का काल है और वही दर्शन मोहनीय के उपशम के लिये काल लब्धि है।

नोटः—कोई जीव सबसे सूक्ष्म अवगाहना लेकर लोक के मध्य भाग में पैदा हो—उसके शरीर पुद्गल के जितने परमाणु हों उतनी वार वहां पैदा हो फिर १-१

परमाणु शरीर की अवगाहना बढ़ाकर सारा लोक अपना शरीर परमाणु बनाले उतना द्रव्य परिवर्तन है—आधा अर्ध पुद्गल परावर्तन है यही काल दर्शन मोहनीय के उपशम का है—मध्य में क्रम छोड़ शरीर धारण को नहीं गिनना चाहिये। विशेष स्वरूप ग्रन्थान्तरों से देखना चाहिये।

भव्यभावविपाकस्य काललब्धि स्तु कारणं।
तत्प्राप्त्या प्रशमो भूयाद् दृङ्मोहस्य च कर्मणः ७०

अर्थ—जीव २ तरह के हैं १ भव्य २ अभव्य। जिसमे सम्यक्त्व प्रगट होने की योग्यता हो उसे भव्य कहते हैं। जिसमें यह योग्यता न हो उसे अभव्य कहते हैं। भव्य जीव के भव्य भाव के पूर्ण होने के लिये काल लब्धि कारण हैं उस काल लब्धि के मिलने पर ही दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है।

यदा भद्रत्वभावस्य संप्राप्ति र्जायते तदा।
देशनाध्वस्तमिथ्यात्वो जीवो सम्यक्त्वमश्नुते ॥७१

अर्थ—जब इस जीव के भद्र भाव (सम्यग्दर्शन के प्रगट) होने की प्राप्ति हो जाती है, तब सच्चे गुरु के

उपदेश आदिक के द्वारा यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जब इस जीव की काल लब्धि आ जाती है और सम्यग्दर्शन के प्रकट होने का काल भी पास आ जाता है तब ही इस जीव को सच्चे गुरु का उपदेश सुहाता है और उस उपदेश के द्वारा मिथ्यात्व का उपशम कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

भद्रभावाद्विना या तु देशना वर्तते भुवि।
न सा कार्यकारी लोके विफला जायते सदा॥ ७२

अर्थ—जब तक जीव में भद्रभाव नहीं आता अर्थात् सम्यक्त्व के प्रकट होने का काल पास नहीं आता तब तक सच्चे गुरु का उपदेश कोई ठीक फल देता नहीं प्रायः व्यर्थ ही जाता है। इसलिये सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये कोई प्रयत्न काम नहीं देता काल लब्धि ही उसका कारण है।

देशनादिचतुस्काणां लब्धीनां भद्रतां विना।
किंचिदपि हि साफल्यं न भवेद्भूतले कदा॥ ७३

अर्थ—जब तक जीव में भद्रता (सम्यक्त्व प्रकट होने की योग्यता) नहीं हो तब तक देशना आदि के चारों लब्धियां ससार में जीव का उद्धार करने में सफल

नहीं हो सकती। क्यों कि भद्रता ही मिथ्यात्व उपशमन की जड़ है। उसके विना मिथ्यात्व का नाश नहीं होता, मिथ्यात्व का नाश करना ही जीव का मुख्य कार्य है।

यदा भद्रत्वभावेन सहिता कार्यकारिताः।
ता देशनादयःसर्वा भावशुद्धे र्विधायिकाः॥ ७४

अर्थ—चारों देशनादिक लब्धियां यदि भद्रत्वभाव सहित हों तब ही मिथ्यात्व नाश रूप कार्य करने में समर्थ हैं तथा भाव शुद्धि करने मे सहायक हो सकती हैं अन्यथा नहीं। जैसे कितनी विन्दुयें रखते जाइये यदि उनके पहिले कोई गिनती का अक्षर हो तो उन विन्दुओं का कई गुना मूल्य हो जाता है अक के विना कुछ भी मूल्य नहीं होता।

काल लब्धिप्रभावेन तत्वातत्वविचारणा।
बुद्धिस्तु जायते श्रेष्ठा जीवानां हितकारका॥ ७५

अर्थ—काल लब्धि के आजाने पर जीव की तत्व (आत्मा की हितकारी वस्तु) अतत्व (आत्मा की अहितकारी वस्तु) विचार करने की श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन होती है, इसी बुद्धि से ही जीवों का हित होता है।

अन्यथा कितना ही उपदेश दिया जाय कुछ विशेष लाभ नहीं होता।

तेन शुद्धात्मतत्वस्य पुद्गलस्य विशेषतः।
सर्वद्रव्यस्वभावस्य विज्ञानं जायते स्फुटं ॥ ७६

अर्थ—काल लब्धि के प्रभाव से ही शुद्ध आत्मतत्त्व अथवा पुद्गल द्रव्य या अन्य सर्व द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होता है। अर्थात् जब काललब्धि आ जाती है तब ही अपने असली धन को ढूढने के लिए तैयार होता है और मिथ्यात्व के परदे को दूर कर सम्यक्त्व को पाता है।

भेदज्ञानबलेनैव शुद्धात्मभावनायुतः।
शुद्धस्वभावभावस्य सद्धयेयत्व मुपाश्रयेत् ॥ ७७

अर्थ—काल लब्धि द्वारा मिथ्यात्व का नाश कर भेद ज्ञान के द्वारा शुद्ध भावना मण्डित हो-शुद्ध स्वाभाविक भाव के असली सच्चे ध्येय को प्राप्त करता है। भेद ज्ञान के द्वारा ही यह जीव मोक्ष को पा लेता है इसलिये यही कार्य कारी है।

काललब्धिप्रभावेन बुद्धौ निर्मलता भवेत्।
तदातिशययोगेन कषाया यांति शाम्यतां ॥ ७८

अर्थ—काल लब्धि के प्रभाव से ही बुद्धि में निर्मलता आती है। उस काल लब्धि के प्रभाव से ही कषाय शांत हो जाती हैं। जब काल लब्धि आती है तब ही दर्शन मोहनीय कर्म और अनतानुबधी कषायों का उपशम होता है और सम्यक्त्व भाव की उत्पत्ति होती है।

सा चातिशयसंपन्ना श्रुतिमाहात्म्यभावना।
तया स्वरूपताचारं भवेद्भवविनाशनं॥ ७९

अर्थ—इस प्रकार के अतिशय से सहित वह भावना हो जाती है जिसकी महिमा शास्त्रों में वर्णित है। अथवा जिनवर के उपदेश की महिमा युक्त भावना प्रकट हो जाती है। उस भावना से दर्शन मोहनीय और अनतानुबंधी ४ कषायों का उपशम होने से स्वरूपाचरणचारित्र सम्यक्त्व के साथ प्रकट होता है जिससे जीव को अपनी अनुभूति होने लगती है। और इसी भावना या स्वानुभूति से ही ससार का नाश होता है।

तेनानन्तगुणश्रेणी निर्जरा जायते स्फुटं।
स्वात्मविशुद्धता चापि निर्मला गुणमालिका॥ ८०

अर्थ—इस (काल लब्धि जनित निर्मल बुद्धि से अनंत गुण श्रेणी निर्जरा होती है। अर्थात् मिथ्यात्वी की अपेक्षा के कर्मों की अनंत गुण श्रेणी रूप निर्जरा होती है इस प्रकार के अनुभव से ही आत्मा में विशुद्धता आती है और आत्मा के गुण निर्मल (आवरण रहित) हो जाते हैं।

सोहमित्यात्तसंस्कारो विशुद्धात्मानुभूतिकः ।
सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तः स्वात्मभावो हि सौख्यदः ॥८१

अर्थ—"वह मैं हूं" इस प्रकार परम शुद्ध आत्मा में जिससे अपने आपको अनुभव द्वारा समान रूप अनुभव कर लिया जाता है तथा जो आत्मा की विशुद्ध अनुभूति युक्त है, ऐसा स्वात्मभाव (स्वानुभव) ही शाश्वत सुख को देने वाला है तथा यह भाव सब प्रकार के दुःख द्वंदों से रहित है।

निर्विकारविशुद्धात्म—निर्विकल्पनिरामयः ।
सहजानन्दसम्पन्नः स्वात्मानुभवसंज्ञकः ८२ ॥

अर्थ—इस परम विशुद्ध विकार रहित, विकल्प शून्य, सांसारिक रोगों से अलग स्वाभाविक आनन्द युक्त जो आत्मा का अनुभव है वही स्वानुभव कहा जाता है।

अर्थात् जिस अनुभव में कोई राग द्वेषादि विकार नहीं है आत्मा में किसी तरह का विकल्प (भेद) नहीं है, जन्म मरणादि रोग नहीं हैं केवल परम विशुद्ध एकत्व भाव को लिये अनुभव होता है वही स्वानुभव है. यह दशा सर्व दुःख जालों से रहित होती है।

अस्यैव नाम विद्वद्भिः शास्त्रापेक्षतया स्फुटं।
करणत्रयतायोगः कथ्यते शास्त्रवेदिभिः॥ ८३

अर्थ—इस परम विशुद्ध अनुभव को ही शास्त्रज्ञानियों ने आगम अपेक्षा से तीन करण का होना बताया है। अर्थात् ५वीं करण लब्धि में तीन प्रकार के करणों को करता हुआ जब अनिवृत्ति करण में एकत्व भाव को भास होता है उस एकत्व भाव को ही ज्ञानियों ने स्वानुभव कहा है।

अधः करणमाद्यं स्यादपूर्वं द्वितयं तथा।
अनिवृत्तिस्तृतीया च परिणामविशेषतः॥ ८४

अर्थ—उन तीन करणों में पहिला अधः करण है, इसमें जिवों के परिणाम पहिले समयों से मिलते जुलते रहते हैं तथा पढ़ते हुये भी होते हैं। जैसे एक जीव के एक समय में १ से १६० न० तक परिणाम होते हैं,

दूसरे समय में ४० से २०० नं० तक परिणाम हों तो ४० से १६० तक के परिणाम परस्पर पहिले समय से दूसरे समय के परिणामों के साथ मिल सकेंगे। पहिले समय के ३६ परिणाम दूसरे समय से नहीं मिलेंगे। १६१ से २०० तक ४० परिणाम पहिले समय की अपेक्षा बढ़ते हुये जावेंगे इस तरह अधः करण कुछ परिणाम पहिले समय के परिणामों से मिल सकते हैं, कुछ नहीं मिलते हैं, फिर भी कुछ पढ़ते हुये होते हैं।

दूसरा अपूर्वकरण है इसमें एक समय वर्ती जीवों के परिणाम परस्पर मे मिल भी सकते और नहीं भी मिलते हैं पर भिन्न समय वर्ती जीवों के परिणामों से बिल्कुल नहीं मिलते हैं। जैसे एक विभाग में १ से १५ तक के नौकर हैं दूसरे में १६ से ३२ तक है तो पहिले विभाग के दूसरे विभाग की तनखा से समानता कभी भी नहीं पा सकते, पर एक ही विभाग में १२ वाले यदि कई हों तो वे आपस में समान हो सकते हैं, पर १२ वाले भी १३ आदिक या ११ आदिक से समानता नहीं पा सकते। इसी तरह अपूर्व करण में भिन्न समयों के परिणाम नहीं मिल सकते एक समय वर्त्ती जीवों के परिणाम मिल भी सकते हैं और नहीं भी मिलते हैं।

तीसरा अनिवृत्ति करण है इसमें एक समय वर्त्ती जीवों के परिणाम एक ही होते हैं उनमें समान असमान का भेद नहीं रहता। इस एकत्व परिणति को ही स्वानुभव कहते हैं, यह एकत्व परिणति ही अनादि काल के चले आये मिथ्यात्व को नाश करती है। इस प्रकार परिणामों की विशेषता से करणों के भी तीन भेद हो जाते हैं।

अंतर्मुहूर्त्तमात्रस्तु कालस्तेषां निगद्यते।
तत्काले प्रशमो भूयान् मोहानंत चतुष्कयोः॥८५

अर्थ—इन ऊपर कहे हुये तीनों करणों का प्रत्येक का काल अंतर्मुहूर्त्त है और सबका काल भी अंतर्मुहूर्त्त है (क्योंकि अंतर्मुहूर्त्त में जितने समय हैं उतने उसके भेद हो सकते हैं)। इस अंतर्मुहूर्त्त काल में ही दर्शन मोहनीय और ४ अनंतानुबंधी का उपशम हो जाता है।

दृङ्मोहोपशमे काले लयतां याति विभ्रमः।
तदेव स्वानुभूतिः स्यान् मोक्षाभ्युदयदायिका॥८६

अर्थ—जिस समय दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम होता है उसी समय आत्मा से विभ्रम (अज्ञान-मिथ्यात्व दूर हो जाता है। और आत्मा में से इस अज्ञान का नाश

होने से भेद विज्ञान होता है। इस भेद विज्ञान से स्वानुभूति होती है यही स्वानुभूति स्वर्ग मोक्ष का कारण है। अर्थात् स्वानुभूति का फल मोक्ष है यदि पूर्व संचित कर्म बिल्कुल नाश न हो पाये हों और मोक्ष उस ही भव में न मिले तो स्वर्गादिक अवश्य ही अपने आप उसे प्राप्त होते हैं।

सम्यक्त्वस्य स्वरूपञ्च विशुद्धात्मानुभूतिकं।
सम्यक्त्वे स्वानुभूतौ हि समव्याप्ति प्रजायते ८७

अर्थ—विशुद्ध आत्मा की अनुभूति होना ही सम्यक्त्व है सम्यक्त्व और स्वानुभूति मे परस्पर समव्याप्ति है अर्थात् जहां समयक्त्व होता है वहां स्वानुभूति अवश्य होती है।

स्वानुभूत्यावृत्ते नृणां शमो यत्र तु वर्तते।
लब्धिरूपं हि सम्यक्त्वं निश्चयं नात्र संशयः ८८

अर्थ—जब जीवों के स्वानुभव रोकने वाले दर्शन मोहनीय और अनंतानुबंधी चतुष्क का उपशम हो जाता है तब ही उनके लब्धि रूप सम्यक्त हो जाता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

आत्मन्यात्मसुखं यत्र वेद्यते चोपयोगकं।
स्वात्मस्थञ्च स्वसंवेद्यं बाह्यद्रव्यपराङ्मुखं ८९

अर्थ—जिम ममय आत्मा में आत्म सुख का अनुभवन किया जाता है वही मम्यक्त्व की उपयोग दशा है इस दशा में आत्मा अपने में स्थित रहती है, अपना अनुभवन करती है, और वाह्य पर द्रव्य से पराङ्मुख रहती है।

अंतर्मुहूर्त्तमात्रं तु काल स्तस्यापि वर्तते ।
औपशमिकसम्यक्त्वं निर्मलं शुद्धरूपकं ॥ ६०

अर्थ—सम्यक्त्व की उपयोग अवस्था का काल भी अंतर्मुहूर्त्त ही रहता है अर्थात् वह स्वानुभव अतर्मुहूर्त्त ही रहता है। इसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं यह भी निर्मल होता है और आत्मा के शुद्ध रूप को प्रगट करने वाला है।

करणत्रयविधानाद्विना नास्ति शम स्तथा ।
दृङ्मोहस्य क्षयो नास्ति संसृतेः दुखनाशकः ६१

अर्थ—इन अधः करणादि तीन करण हुये विना दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम क्षय क्षयोपशम नहीं हो सकता। यही दर्शन मोहनीय का नाश ही ससार के दुःख का नाश करने वाला है।

स्वानुभूतिर्हि सम्यक्त्वं मोक्षबीजं परं मतं ।
कर्मणांयस्य सद्भावे क्षयोभूयाद्धि निश्चितं ॥ ६२

अर्थ—स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है। यही सम्यक्त्व मोक्ष का प्रधान कारण है। इस सम्यक्त्व के होने पर नियम से कर्मों का क्षय हो जाता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन से आत्मस्वरूप प्रकट होता है, कर्म जाल कटता है।

स्वानुभूतिः सदासेव्या सहजानंददायिका ।
सैवाहारो हि जीवस्य परमात्मसुखंकरः ॥ ६३

अर्थ—इस जीव को स्वानुभूति ही शाश्वत स्वाभाविक आनन्द को देने वाली है, इसीलिये उसका ही सदा सेवन करना चाहिये। यही स्वानुभूति ही जीव को परमात्मपन के सुख को अनुभव कराने वाला आहार है अर्थात् इस स्वानुभव आहार को पाकर जीव सदा सुख में निमग्न रहता है।

चित्तश्चैतन्यमाहारो निजशुद्धगुणाश्रयः ।
अद्वैतभावनोत्पन्नः शुद्धःशुद्धनयात्मिकः ॥ ६४

अर्थ—इस शुद्ध जीव का शुद्ध ज्ञान दर्शन रूप उपयोग ही निज आहार है क्योंकि यह पराश्रित न होकर

अपने शुद्ध गुण अनुभवरूप है, सम्पूर्ण विकल्प जाल को दूर कर अद्वैत (एकत्व निर्विकलपत्व) भाव से पैदा हुआ है अतएव शुद्ध है। तथा शुद्ध निश्चय नय का विषय है।

अयमेव निजाहारो निर्विकारकरः सदा।
परो हि पुद्गलाहारः पराश्रितविकारकः॥ ६५

अर्थ—यह स्वानुभव (शुद्ध उपयोग) ही आत्मा का आहार है।—इससे आत्मा में कभी विकार नहीं आता। इस आहार को छोड कर और सब पुद्गल का आहार है आत्मा के लिये पर है, इसीलिये विकार को करने वाला है।

सम्यग्दृष्टिर्निजाहारं स्वात्मानं संददाति च।
देहाहारं तु देहाय प्रदाता कर्ममोचकः॥ ६६

अर्थ—सम्यग्दृष्टि अपनी आत्मा के लिये सदा निज आहार को ही देता है। जो देह या पुद्गल जन्य आहार है वह तो देह के लिये देता है। इस तरह कर्म तथा कर्मों से प्राप्त सामग्री को कर्म के लिये देने वाला जीव स्वय कर्म के जजाल से छूट जाता है।

आत्मानुभूतिसम्यक्त्वं गुणभेदविभेदकं ।
तन्निश्चयात्मकं प्रोक्तं सम्यक्त्वं वीतरागकं ॥ ६७

अर्थ—आत्मा की अनुभूति ही सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व गुणों के भेद से भेद रूप है। अर्थात् वह सम्यग्दर्शन निश्चय व्यवहार से २ प्रकार का है। आत्मा की जो वीतराग परम शुद्ध निर्विकल्प परिणति है, वही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्वे निश्चये नास्ति गुणभेदं तथैव च ।
लक्ष्यं च लक्षणं नास्ति साध्यसाधनयोरपि ॥ ६८

अर्थ—निश्चय सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार का कोई गुण भेद नहीं है, यहां तक कि उसमें साध्य साधन का भेद भी नहीं है, लक्ष्य लक्षण भेद भी नहीं है। अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा की शुद्ध एकत्व परिणति है।

निश्चयेन हि लक्ष्यस्य लक्षणं नास्ति भिन्नता ।
अभिन्नत्वप्रदेशानां कुतो भेदो हि जायते ॥ ६९

अर्थ—निश्चय सम्यक्त्व में लक्ष्य लक्षण भेद नहीं होता, क्योंकि भेद का होना ही व्यवहार है (विशेषेण

अवहरणं = विविध कल्पन व्यवहारः) । जहां आत्मा के प्रदेशों में अभिन्नता है वहां भेद कहां से हो सकता है।

कार्यकारणभावस्तु सहकारित्वमेव च ।
सम्यक्त्वस्वभावेन वर्त्तते नात्र संशयः ॥ १००

अर्थ—सम्यग्दर्शन आत्मस्वभाव या आत्मा की शुद्ध दशा प्रकट होने के लिये कारण है या सहकारी है, इस प्रकार कार्य कारण भाव व सहकारी भाव आत्मा में स्वभाव रूप से रहते हैं। अर्थात् जहां आत्मा से सम्यक्त्व की अभिन्नता है वहां कोई भिन्न कार्य कारण पना या सहकारी पना नहीं होता, सम्यक्त्व ही कारण है, सम्यक्त्व ही कार्य है, सम्यक्त्व ही सहकारी है सब कुछ सम्यक्त्व ही है इस मे जरा भी सन्देह नहीं है। क्योंकिः—

निश्चयात्मकसम्यक्त्वं विकल्पातीतसूक्ष्मकं ।
दृङ्मोहोपशमादेव स्वात्मनि जायते स्फुटं १०१

अर्थ—निश्चय सम्यग्दर्शन विकल्पातीत है उसमें कार्य कारण आदि कुछ भी विकल्प नहीं होते। वह तो परम सूक्ष्म है। और दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम

होने के साथ ही आत्मा में स्पष्ट प्रगट होता है। अर्थात् निश्चय समयक्त्व में आत्मा की एकत्व स्थिति होती है।

अस्त्यात्मनो गुणः समयग्नित्यो वाचामगोचरः।
केवलज्ञानविषयो छद्मस्थानामगोचरः॥ १०२

अर्थ—आत्मा का सम्यक्त्व नाम का एक गुण है जो नित्य है, वचनातीत है, केवलज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। अल्प ज्ञानियों के ज्ञान का वह निश्चय सम्यग्दर्शन विषय नहीं हो सकता। अर्थात् आत्मा के गुणों का प्रत्यक्ष केवल ज्ञान द्वारा ही होता है। आत्मा अमूर्तीक है उसके गुण अमूर्तीक हैं अमूर्तीक का ज्ञाता केवलज्ञान ही है अन्य तो रूपी पदार्थ के ही ज्ञाता हैं, या अरूपी के परोक्ष ज्ञाता हैं।

देशप्रत्यक्षकानां तु विषयो मन्यते क्वचित्।
सम्यक्त्वविषयो नास्ति चामूर्तत्वात् कदाचन १०३

अर्थ—कोई कोई अवधि ज्ञान वा मनः पर्यय ज्ञान का सम्यग्दर्शन विपय मानते हैं, पर सम्यग्दर्शन इनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वह अमूर्तिक है ये मूर्तिक पदार्थ को जानते हैं।

सम्यक्त्व प्रतिपक्षो वै दृङ्मोहकर्मविद्यते ।
तन्मूर्तविषयत्वाद्धि विपक्षत्वाद्धि गम्यते ॥१०४

अर्थ—सम्यग्दर्शनका प्रतिपक्षी दर्शन मोहनीय कर्म है वह मूर्तीक है इसलिये वही अमूर्तीक ज्ञान के विपक्षी मूर्तग्राही अवधि मन पर्यय ज्ञान का विषय हो सकता है सम्यक्त्व नहीं ।

दर्शनज्ञानचारित्रसुखादीनां स्वभावतः ।
निजात्म परिणामे न सम्यक्त्वं मुख्य कारणं १०५

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र सुख आदि जितने भी आत्मा के अनत गुण हैं, उनका स्वभाव रूपसे परिणमन सम्यग्दर्शन के साथ साथ ही होता है। अर्थात् आत्मा का जब सम्यक्त्व होते ही स्वभाव परिणमन होता है तब सब ही गुण उसी स्वभाव से परिणमन करते हैं। वहां आत्मा की शुद्ध एक अवस्था हो जाती है।

सम्यक्त्वे सति सर्वेषां गुणानां निजरूपतः ।
परिणामो भवेच्छुद्धेस्तद्विना चान्यथाभवेत् १०६

अर्थ—सम्यग्दर्शन होने पर सब गुणों का अपने रूप से शुद्ध परिणमन होने लगता है—सम्यग्दर्शन न

होने पर स्वाभाविक परिणमन नहीं हो सकता क्योंकि सम्यक्त्व ही एक गुण है, मूल है, आत्मस्वभाव है सारे गुण आत्मा मे उसी से ही शुद्ध परिणमन करते हैं।

सम्यक्त्वप्रभावेन यांति निर्मलतां गुणाः ।
इंद्रनीलमणेः संगात् दुग्धो हि नीलतां यथा १०७

अर्थ—जैसे इन्द्रनील मणि को दूध में डालदो तो सारा दूध नीला ही प्रतीत होता है, उस ही प्रकार सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा में सारे गुण निर्मल ही अनुभव आते हैं।

शुद्धसम्यक्त्वसंगेन गुणाः निर्मलतां तथा ।
चित्रं स्वभावसामर्थ्यं सम्यक्त्वस्य महात्मनः १०८

अर्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ जितने भी आत्मा में गुण हैं वे सब परम निर्मल हो जाते हैं (मात्र दीखते ही नहीं) यह उस सम्यग्दर्शन का विचित्र स्वभाव ही है।

सम्यक्त्वस्य प्रधानत्वाद् पूज्यत्वं गुणपंक्तिषु ।
तदेवोपासनीयोऽत्र मानुषे जन्मनि सदा ॥१०९

अर्थ—जितने भी आत्मा के गुण हैं उन गुणों में सम्यग्दर्शन ही महान् है इसी लिये वह प्रधान है और वही भव्य पुरुषों के द्वारा इस मनुष्य जन्म में आदर पाने योग्य है। अर्थात् भव्य पुरुष ऐसे दुर्लभ सम्यक्त्व रत्न को मनुष्य जन्म पाकर आदर से ग्रहण करते हैं।

गुणौघनिर्मलत्वाद्धि स्वपरिणमनंभवेत् ।
स्वभावपरिणामो हि गुणानां शुद्धिलक्षणं ११०

अर्थ—इस प्रकार सम्यक्त्व के कारण सारे गुण समूह का स्वाभाविक परिणमन होने लगता है स्वभाव रूप से परिणमन होना ही गुणों की शुद्धि का स्वरूप है।

सम्यक्त्वाभावतःसर्वे गुणा विकृतिसंयुताः ।
विभावनाशने शक्तं सम्यक्त्वं परमं मतं ॥ १११

अर्थ—सम्यग्दर्शन के अभाव से आत्मामें सारे गुण विकार सहित होते हैं उन सब गुणों का विकार नाश करने में सम्यक्त्व ही प्रधान कारण है। इसके होने पर वे शुद्ध हो जाते हैं।

तस्मात् सर्वगुणानां तु विकृते र्नाशने सदा ।
सम्यक्त्वं हि समर्थं स्यात् पूजार्हत्वं प्रधानतः ११२

अर्थ—क्योंकि सम्यग्दर्शन ही सम्पूर्ण गुणों के विकार को दूर करता है इसलिये वही प्रधान है और आदर पाने योग्य है।

स्वपरस्यापकाराय सम्यक्त्वमेक मेव च।
समर्थं विद्यते लोके परं निर्मलकारकं ॥ ११३

अर्थ—इस संसार में अपना (आत्मा का) और पर (शेषगुण समुदायों) का उपकार (शुद्ध परिणमन) करने के लिये अकेला सम्यग्दर्शन ही समर्थ है वह स्वय निर्मल होते हुये दूसरे गुणों को भी निर्मल करने वाला है।

सम्यक्त्वलक्षणं प्रोक्तं विद्वद्भिः ज्ञानचेतना।
श्रद्धानं तु पदार्थानां तत्वार्थानां तथैव च ११४

अर्थ—विद्वानों ने ज्ञान चेतना (आत्मा का अपना अनुभव) ही सम्यक्त्व का लक्षण कहा है। सारभूत पदार्थों का तत्वदृष्टि से निश्चय करना श्रद्धान करना अनुभव करना ही वह सम्यग्दर्शन है।

चेतना ३ तरह की होती है १ कर्मफल चेतना २ कर्म चेतना ३ ज्ञान चेतना। कर्मफल चेतना में जीव कर्म के

आधीन रहता, अपने आत्मा की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। वह कर्म फल चेतना मिथ्यादृष्टि के होती है।

२ री कर्म चेतना है कर्म चेतना में जीव कर्मोदय जन्यभाव को अपना स्वरूप मानता है और पर वस्तु का कर्तृत्वपना भी मानता है और परवस्तु का विनाश का उपाय सोचता या करता है।

३ री ज्ञान चेतना है—इसमें जीव रागद्वेषादि रहित अपने स्वरूप का अनुभव करता है। अत की ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टि के होती हैं।

सम्यक्त्व का लक्षण

आप्तागमयतीनां च श्रद्धानं लक्षणं मतं।
अत्र तु कथ्यतेभिन्नं स्वानुभूत्यात्मलक्षणं ॥ ११५

अर्थ—सच्चे देव (अरहत भगवान्) सच्चे शास्त्र (अरहत कथित या तदनुसार वर्णित) सच्चे गुरु (वीतरागी परम निर्ग्रंथ गुरु) इनका श्रद्धान करना शास्त्रों में आचार्यों ने सम्यग्दर्शन का लक्षण माना है, पर यहां स्वानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण कहा है।

विरोधं वर्तते वाचि कथं विश्वासपात्रकं।
शास्त्राविरोधवचनं वक्तव्यं हितकाम्यया ॥ ११६

अर्थ—ऊपर के श्लोक में २ प्रकार सम्यक्त्व का लक्षण कहा है—इन दोनों लक्षणों मे परस्पर विरोध मालूम पड़ता है, क्योंकि यहां पर श्रद्धान और आत्मानुभव परस्पर विरुद्ध बात है, अतः इन वचनों का कैसे विश्वास किया जाय। हे गुरु महाराज! हमारा हित ध्यान में रखकर शास्त्र अविरुद्ध बात बतलाइये, इस प्रकार शिष्य प्रश्न करता है।

आचार्य उत्तर देते हैं।

पूर्वशास्त्रविरुद्धं न मद्वचनं हि कचित् कदा।
केवलं विद्यते भेदकथनापेक्षया स्फुटं॥ ११७

अर्थ—हे शिष्य! मेरे वचन पूर्व शास्त्र विरुद्ध नहीं है केवल कथन करने की शैली है, इस कारण भेद प्रतीत होता है। अर्थात् शास्त्रों में जो अनेक प्रकार सम्यक्त्व के लक्षण कहे हैं जैसे सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान करना, स्वानुभव होना सात तत्त्वों का श्रद्धान करना आदि ये सब कथन करने की शैली है तात्पर्य भेद कहीं नहीं है।

लक्षण व उसके प्रकार का कथन।

लक्षणं द्विविधं प्रोक्तमनात्मस्वात्मभूतिकं।
भिन्नमनात्मभूतं च न भिन्नं स्वात्मभूतिकं ११८

अर्थ—जिससे वस्तु पहिचानी जाय उसे लक्षण कहते हैं। वे लक्षण २ प्रकार होते है १ आत्मभूत २ अनात्म भूत।

आत्मभूत लक्षण उसे कहते हैं जो वस्तु से अभिन्न होकर वस्तु को बतावे जैसे जीव का चेतना आदि।

अनात्म भूत लक्षण उसे कहते हैं जो वस्तु से भिन्न होकर भी वस्तु को बतावे जैसे लाठी वाले पुरुष को लावो यहां अनेक विना लाठी वाले पुरुषों से पुरुष विशेष को लाठी जुदी करती है—पर लाठी पुरुष से भिन्न है इस प्रकार भिन्न होकर जो वस्तु का बोध करावे वह अनात्मभूत लक्षण है।

सम्यक्त्व के लक्षण—

लक्षणं कथितं प्राग्यत् स्वानुभूत्यात्मकं मया।
अनात्मभूतचिन्हं च भिन्नाभिन्नप्रदेशतः॥ ११९

अर्थ—मैंने पहिले जो लक्षण का स्वरूप कहा है वह भेदाभेद अपेक्षा से उनके भेद किया है स्वात्म भूत लक्षण, लक्ष्य और लक्षण एक अभिन्न प्रदेश है और अनात्म भूतल क्षण, लक्ष्य से भिन्न प्रदेशी है। इसी का खुलासा आगे करते हैं।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं निराकारगुणत्वतः।
अरूपात्मगुणा स्तस्मादमूर्तविषयं भवेत्॥ १२०

अर्थ—यथार्थ मे सम्यग्दर्शन अमूर्त आत्मा का गुण है, अतएव परम सूक्ष्म है, निराकार है इसी कारण वह अमूर्त ज्ञान का ही विषय हो सकता है।

अस्ति चामूर्त्तमानात्मा गुणास्तस्य तदात्मकाः।
छद्मस्थैस्तेन हि ग्राह्यं प्रत्यक्षेन कदाचन ॥१२१

अर्थ—जब आत्मा अमूर्तीक है तो आत्मा से अभिन्न उनके गुण भी अमूर्तिक हैं। वे गुण अल्प ज्ञानियों को प्रत्यक्ष कभी नहीं हो सकते। क्योंकि अल्प ज्ञानियों के ४ तक ज्ञान हो सकते हैं उनमे, २ ज्ञान परोक्ष हैं शेष २ मूर्तग्राही हैं, अमूर्त गुण ग्राही नहीं हैं।

अमूर्त्त का ग्राही कौन है यही कहते हैं।

अमूर्त्तविषयग्राही केवलज्ञानमेव च।
प्रत्यक्षत्वेन शास्त्रोक्तं हि छद्मस्थो न कदाचन १२२

अर्थ—अमूर्त्त वस्तु या तदभिन्न गुणों को प्रत्यक्ष रूप से जानने वाला केवल ज्ञानी ही है। अल्प ज्ञानियों के केवल ज्ञान होता नहीं अतएव वे व उनका ज्ञान अमूर्त्त सम्यक्त्वादि गुण नहीं ग्रहण कर सकते।

सम्यक्त्वं केवलज्ञानं गम्यं सूक्ष्मस्वरूपतः ।
लक्ष्यांशदर्शनाद्विना लक्षणं ज्ञायते नहि ॥ १२३

अर्थ—सम्यग्दर्शन परम सूक्ष्म अतींद्रिय है अतः वह केवल ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। जब लक्ष्य का दर्शन (ज्ञान) हो जाता है तब लक्षण का ज्ञान होता है। लक्ष्य दर्शन बिना संसार में लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है। सम्यक्त्व जब मूर्त्त ज्ञान द्वारा जाना ही नहीं जाता तो उसका लक्षण कैसे किया जाय।

परोक्ष ज्ञान सम्यक्त्व ग्राही नहीं है।

मतिश्रुतं न प्रत्यक्षं परोक्षमिति कथ्यते ।
मतिश्रुतविषयं नैव सम्यक्त्वं विद्यते क्वचिर १२४

अर्थ—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं है इन्द्रिय जन्य होने से परोक्ष है अतः सम्यक्त्व मति ज्ञान श्रुतज्ञान द्वारा नहीं जा सकता।

अवधि मन पर्यय सेभी सम्यक्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता।

मत्याश्रुतेन सम्यक्त्व-लक्षणं न हि ज्ञायते ।
अवधिचित्तपर्याय-ज्ञानाभ्यां न च गम्यते ॥१२५

अर्थ—जिस तरह मतिज्ञान श्रुत ज्ञान से सम्यक्त्व का ज्ञान नहीं होता, उसी तरह अवधि ज्ञान व मनः पर्यय ज्ञान द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वे भी मूर्त्तग्राही हैं।

शिष्य का प्रश्न श्रुत से सम्यक्त्व जान सकता है।

श्रुतज्ञानेन सद्दृष्टिः स्वात्मानं बोधते क्वचित्।
सम्यक्त्वस्य कथं ज्ञाता न भवेत् श्रुतवान् नरः १२६

अर्थ—सम्यग्दृष्टि श्रुत ज्ञान द्वारा भी कभी २ आत्मा को जानता है अनुभव करता है फिर श्रुतवान् पुरुष सम्यक्त्व गुण का ज्ञाता क्यों न होगा अवश्य होगा ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

गुरु का उत्तर

श्रुतज्ञानेन जानाति स्वात्मनो गुणरूपकान्।
परात्मनो गुणान्नैव जानाति श्रुतवान् कदा १२७

अर्थ—श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान से अपनी आत्मा के गुणों के स्वरूप को जानता है (स्वानुभव करता है)। पर श्रुतज्ञानी दूसरी आत्मा के गुण को जाणता अपने आत्माका स्वानुभव गुण का साक्षात् ज्ञान भी करता है।

अतएव श्रुतज्ञानी अमूर्त्तगुण को जानता है। अपनी आत्मा के अनुभव रूप सम्यक्त्व को प्रत्यक्ष जानता है

स्वानुभवो न सम्यक्त्वं निजात्मगुणरूपकः ।
यथा सम्यक्त्वगुणो भूयात् भिन्नः स्वानुभवस्तथा

अर्थ—स्वानुभव और सम्यक्त्व एक ही वस्तु नहीं है जिस प्रकार सम्यक्त्व नाम का आत्मा का भिन्न गुण है उसी प्रकार स्वानुभव भी भिन्न ही वस्तु है—

नामान्तरं न सम्यक्त्वं नानर्थान्तरमेव वा ।
तस्मात्स्वानुभवश्चिन्हं सम्यक्त्वस्य न वर्त्तते। १२६

सम्यक्त्व स्वानुभव का नामांतर भी नहीं है जैसे मनुष्य पुरुष मात्र नामान्तर है वस्तु एक ही हैं इस प्रकार नहीं है। न सम्यक्त्व और स्वानुभव अभिन्न ही है। अतः सम्यक्त्व गुण का स्वानुभव लक्षण नहीं हो सकता।

सम्यक्त्व गुण का कथन—

सम्यङ्मिथ्याविशेषेण वर्त्ततेऽनुभवस्तथा ।
भिन्नोऽनुभवः शुद्धः स्वतः सिद्धगुणस्ततः। १३०

अर्थ—जिस प्रकार सम्यक्त्व होने के ठीक पूर्व मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व रूप (मिश्रित) एक प्रकार का विशेष

अनुभव होता है उसी प्रकार सम्यक्त्व होते ही मिश्रित अनुभव से भिन्न एक प्रकार का शुद्ध अनुभव भी होने लगता है, वही आत्मा का स्वतः सिद्ध सम्यक्त्व नाम का गुण है।

दृङ्मोहोदयकाले (तु) मिथ्यानुभवसंज्ञकः।
तदभावाद्धि सम्यक्त्वं विशेषेण विराजते ॥१३१

अर्थ—दर्शन मोहनीय के उदय होने पर आत्मा में मिथ्या अनुभव होता है। जैसे शराबी को भिन्न प्रकार का अनुभव होता है—पर नशा उतरते ही अन्य प्रकार का अनुभव होने लगता है इसी प्रकार असम्यक्त्वी के मिथ्यात्व कर्म का अभाव होते ही भिन्न प्रकार का अनुभव सम्यक्त्व गुण के कारण होने लगता है। स्वानुभूति स्वानुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण कहा जा सकता है।

सम्यक्त्व लक्षणं नास्ति तदपि स्वानुभूतिकं।
वक्तुं केनापि शक्येच्च भिन्नत्वाद्गुणरूपतः॥१३२

अर्थ—यद्यपि सम्यक्त्व को अमूर्त्त आत्मा का गुण होने से उसका कोई लक्षण नहीं है फिर भी स्वानुभूति को उसका लक्षण किसी प्रकारसे कहा जा सकता है क्योंकि वह उस सम्यग्दर्शन से सहभावी है जो जिससे सहभावी

होता है वह उसका बोध कराता है।

स्वानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण क्यों है—

सम्यक्त्वसहकाले हि निजात्मानुभवो भवेत्।
तदपेक्षतया प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणात्मकं ॥१३३

अर्थ—सम्यक्त्व होने के साथ ही स्वात्मानुभव होता है इसलिये इसी दृष्टि से स्वानुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है क्यों कि स्वानुभव सम्यक्त्व का बोध कराता है।

सम्यक्त्वस्य स्वरूपं तु निर्विकल्पगुणात्मकं।
इत्थंभूतं हि सम्यक्त्वं कल्पना केन कार्यते।१३४

अर्थ—सम्यक्त्व का स्वरूप निर्विकल्प है, अतः निर्विकल्प सम्यक्त्व की कल्पना कौन कर सकता है। निर्विकल्प में कल्पना कैसे की जा सकती है, अन्यथा निर्विकल्प कैसा—

सम्यक्त्वं निर्विकल्पत्वादात्मभूतं हि लक्षणं।
कर्तुं केनापि नो शक्यं दुर्लभं स्वात्म लक्षणं।१३५

अर्थ—सम्यक्त्व निर्विकल्प है अतएव उसका आत्मभूत लक्षण नहीं किया जा सकता। उसका लक्षण होना

वड़ा कठिन है। निर्विकल्प में लक्षण होने से वह निर्वि-
कल्प नहीं रहता-क्यों कि लक्षण होने पर भेद अवश्य
होता है।

आत्मनो हि गुणाः सर्वे निर्विकल्पा मताः सता।
स्वयं सिद्धाः स्वयंभूताः प्रोक्ताः सर्वज्ञशासने।१३६

अर्थ—आत्मा के समस्त गुण निर्विकल्प हैं, स्वय
सिद्ध है ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। आत्मा
अमूर्तिक है, निर्विकल्प है, तो उसके गुण भी वैसे ही हैं
उनमें भेद कर लक्षण कैसे किया जा सकता है।

प्रयोजनार्थचिन्हैश्चोभिन्ना श्चानन्तसंख्यकाः।
गुणा प्रदेशतः सर्वे ह्यात्मरूपा अभिन्नतः।१३७

अर्थ—आत्मा के अनन्त गुण हैं वे सब गुण आत्मा
से अभिन्न होने पर भी अर्थ लक्षण प्रयोजन से आत्मा से
भिन्न है।

चितो ज्ञानगुणाद्भिन्ना गुणाः सामान्यसंज्ञकाः।
सामान्याच्च विशेषा द्धि विकल्परहिताः मताः १३८

अर्थ—आत्मा के ज्ञान गुण से भिन्न और भी सामान्य गुण हैं वे सब गुण सामान्य और विशेष आदि सब विकल्पों से रहित हैं।

आत्मा में विशेष गुण तो दर्शन ज्ञान है और सामान्य असख्यात हैं वे सब विकल्पातीत हैं।

तस्माद्वक्तुमशक्यत्वा न्निर्विकल्पगुणात्मनां ।
उल्लेखं लक्षणं चापि क्रियते ज्ञानयोगतः ।१३९

अर्थ—इसलिये आत्मा के गुण निर्विकल्प होने से यद्यपि कहे नहीं जा सकते हैं। फिर भी ज्ञानके द्वारा उन गुणों का उल्लेख लक्षण आदि किया जाता है अर्थात् अनिर्वचनीय तत्व होने पर भी व्यवहारियों के समझाने के लिये उसका वर्णन ज्ञानके द्वारा किया जा सकता है।

तस्मात् सम्यक्त्वसूक्ष्मस्य लक्षणं स्वात्मभूतिकं।
कर्त्तुं केनापि नो शक्यं छद्मस्थेन कदाचन ॥१४०

अर्थ—फिर भी उस निर्विकल्प सम्यक्त्व का स्वात्म भूति लक्षण कोई भी अल्प ज्ञानी स्वतन्त्ररूप से (पूर्व परम्परा विना) नहीं कर सकता। क्यों कि जिनको सम्यक्त्व व स्वानुभव हो गया है वही उसका ज्ञान द्वारा

कथन करने के अधिकारी हैं सर्व सामान्य नहीं। ऐसा करने से हानि हो सकती है।

सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण—

प्राक् श्रीसूरिवरैः सर्वैः शास्त्रज्ञैः कथितं ततः।
अनात्मभूत चिन्हं हि सत्यं वस्तु विवेचना।१४१

अर्थ—पहिले शास्त्रों के ज्ञाता समस्त आचार्यों ने सम्यक्त्व का अनात्म भूत लक्षण कहा है, वह लक्षण भी सत्य है, समीचीन है, उसके द्वारा सम्यक्त्व रूप वस्तु की विवेचना की गई है क्यों कि आत्म भूत लक्षण जो भिन्न वस्तु में हो नहीं सकता।

स्वपरयो र्द्वयोरेव ग्राहको ज्ञानसंज्ञकः।
स्वरूपस्थः सदा वेत्ति ज्ञेयं स्वपररूपकं॥१४२

अर्थ—आत्मा का ज्ञान नाम का एक गुण है जो स्व (ज्ञान--आत्मा) पर (आत्मा से भिन्न पर पदार्थ) का ग्राहक है। वह ज्ञान अपने स्वरूप में सदा रहता हुआ भी स्व और पर रूप ज्ञेय को हमेशा जाना करता है क्योंकि ज्ञान का यही स्वभाव है (स्वापूर्वार्थ व्यव-सायात्मकं ज्ञानं)।

ज्ञेयाकारं हि गृह्णाति ज्ञेयरूपं कदापि न।
स्वपरार्थान् समंवेत्ति मुकुरवच्चात्मसंस्थितान्

अर्थ—वह ज्ञान गुण वस्तु के आकार को तो अवश्य ग्रहण करता है जैसे हम किसी वस्तु को जाने तो उसकी आकृति हमारे हृदय में अंकित हो जाती है इसी तरह ज्ञान ज्ञेयाकार (वस्तु के आकार को लिये हुये) है फिर भी ज्ञेय रूप कदापि नहीं होता जैसे दीपक घट को बताता है पर स्वय घट रूप नहीं होता। किन्तु जैसे दर्पण अपने में पड़ने वाले समस्त प्रतिविम्बों को व अपने को प्रकट करता है इसी प्रकार ज्ञान अपने को और अपने मे प्रतिविम्बित होने वाले समस्त ज्ञेयों को बताता है।

सिद्धआत्म गुणौघेषु प्रधानं ज्ञानमेव च।
चैतन्यात्मतया धत्ते सर्वान्स्वात्मगुणान् सदा

अर्थ—इसलिये आत्मा के गुण समुदाय में ज्ञान ही प्रधान गुण है, उसे चैतन्य स्वरूप होनेसे वह अपनेमें सारे

आत्म गुणों को धारण करता है। अर्थात् ज्ञान गुण में आत्मा के सारे गुण झलकते हैं।

दृश्यते हि यथा लोके दुग्धःश्वेतगुणो भवेत्।
इन्द्रनीलमणेः संगात् दृश्यते नीलतां यथा।१४५

अर्थ—लोक में देखा जाता है कि दूध श्वेत होता है पर इन्द्र नील मणि के सम्बन्ध से नीला नीला दीखता है इसी प्रकार सम्यक्त्वादि गुण ज्ञान से यद्यपि भिन्न हैं पर ज्ञान की संगति से ज्ञानरूप मालूम पड़ते हैं अतएव ज्ञान या स्वानुभव सम्यक्त्व कहा जाता है।

चैतन्यत्वं हि सर्वेषु गुणेषु चात्मनो सदा।
चैतन्यपरिणामोऽयं सत्यं ज्ञानगुणत्वतः।१४६

अर्थ—आत्मा के जितने गुण हैं उन सब में चैतन्य का प्रतिभास है। अर्थात् ज्ञान दर्शन गुण के द्वारा वे सब अनुभव में आते हैं ज्ञान उन सब में व्याप्त है। यह ज्ञान चैतन्य का परिणाम या पर्याय है। अतएव जो कुछ अनुभव में आता है वह सब ज्ञान है।

सम्यक्त्वस्य यच्चिन्हं कथितं प्राग्यतीश्वरैः।
ज्ञानपर्यायरूपं हि श्रद्धानं सुष्टुरेव च।१४७

अर्थ—पुराने आचार्यों ने सम्यक्त्व का जो लक्षण या चिन्ह बताया है वह श्रद्धान रूप लक्षण ज्ञान की पर्याय ही है। अर्थात् तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन आचार्यों ने बताया है या आत्म श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। वह श्रद्धान भी ज्ञान ही है ज्ञान से भिन्न श्रद्धान हो ही नहीं सकता।

स्वात्मानुभूतिचिन्हं च तदपि ज्ञान मेव च।
न किंचिदंतरं प्राहु रात्मज्ञान द्वयोस्ततः ॥१४८

अर्थ—आत्मा का चिन्ह जो स्वात्मानुभूति आचार्यों ने बताया है वह भी ज्ञान ही है। ज्ञान और आत्मा में कुछ भी अन्तर नहीं है। आत्मा का लक्षण उपयोग है। उपयोग २ तरह का है ज्ञान और दर्शन। ज्ञान के द्वारा आत्मा पर पदार्थों से भिन्न अनुभव में आती है, वह अनुभव ज्ञान है। ईस दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

स्वानुभूति सम्यक्त्व क्यों है ?

सम्यक्त्वसहभावो हि भवेत्स्वात्मानुभूतिकः।
यत्र यत्र तु सम्यक्त्वं तत्र स्वानुभवो भवेत्।१४६

अर्थ— सम्यक्त्व और स्वानुभूति में परस्पर सह-भाव है अर्थात् जहां पर सम्यक्त्व होता है वहां ही स्वात्मानुभूति होती है स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व के अभाव में कभी नहीं होती।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सम्यक्त्वसहकालकः।

स्वानुभवो भवेन्नित्यः स्वात्मानंदप्रदायकः।१५०

अर्थ—सम्यक्त्व और स्वानुभव का एक काल होने से आपस में अन्वय व्यतिरेक है। सम्यक्त्व होने पर स्वानुभव होता है यह तो अन्वय है। सम्यक्त्व के अभाव में स्वानुभव नहीं होता है यह व्यतिरेक है। अतएव स्वानुभव सम्यक्त्व का द्योतक है यही स्वानुभव परम आनन्द का देने वाला है।

सम्यक्त्व और स्वानुभूति की कैसी व्याप्ति है यह यह दिखाते हैं।

सम्यक्त्वेन समं व्याप्ति र्लब्धिरूपेन चान्वया।

विद्यते स्वानुभूते र्हि विषमा चोपयोगिके। १५१

अर्थ—स्वानुभूति की लब्धि रूप से सम्यक्त्व के साथ व्याप्ति नहीं है अर्थात् जहाँ लब्धि रूप से सम्यक्त्व होता है वहां स्वानुभूति नहीं होती। किन्तु जहां उपयोग-

रूप सम्यक्त्व होता है वहाँ स्वानुभूति अवश्य होती है। क्योंकि सम्यक्त्व की उपयोग दशा और स्वानुभूति का सहकाल है।

तदपेक्षतया सम्यक् चिन्हं तु क्रियते यदा।
तदा सत्यं भवेच्छुद्धं निर्दोषं बाधवर्जितं।१५२

अर्थ—उपयोग दृष्टि से सम्यक्त्व का चिन्ह स्वानुभूति किया जाता है अर्थात् स्वानुभूति उपयोग सम्यक्त्व का लक्षण है क्योंकि दोनों एक साथ होते हैं। इस उपयोगात्मक दृष्टि से स्वानुभूति सम्यक्त्व का दोष और बाधा रहित शुद्ध लक्षण हो सकता है, लब्धिरूप सम्यक्त्व के साथ स्वानुभूति की सह व्याप्ति नहीं है अतः इस दृष्टि से स्वानुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा जा सकता—उपयोग दृष्टि से लक्षण कह दिया है।

सम्यक्त्व ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं ? ऐसी शका शिष्य करता है।

वदन्ति ज्ञानपर्यायं केचित् सम्यक्त्वरूपकं।
नहि चात्मगुणः कश्चित् निर्विकल्पगुणात्मकः १५३

अर्थ—कोई कोई सम्यक्त्व को ज्ञान की पर्याय कह देते हैं क्योंकि कोई भी आत्मा का निर्विकल्प स्वरूप नहीं

हो सकता। क्योंकि जो भी गुण होगा ज्ञान गम्य होगा ज्ञान सविकल्प है। अतः ज्ञानगम्य गुण भी सविकल्प होंगे।

ज्ञानमेव हि सम्यक्त्वं ज्ञानादन्यत्र कोपि न।
श्रद्धानं लक्षणं चास्ति स्वात्मभूतं स्वपर्ययात् १५४

अर्थ—इसलिये ज्ञान ही सम्यक्त्व है ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं है। सम्यक्त्व का जो श्रद्धान लक्षण कहा है वह भी ज्ञान का स्वात्मभूत लक्षण है क्योंकि श्रद्धान ज्ञान की पर्याय है।

आचार्य शिष्य का उत्तर देते हैं।

आरेका वर्तते सुष्टु निराधारं तुशास्त्रतः।
ज्ञानपर्यायरूपं तु सम्यक्त्वं कथितं नहि॥ १५५

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य तुम्हारा यह प्रश्न यद्यपि बहुत सुन्दर है पर शास्त्र सम्मत नहीं है। क्योंकि शास्त्रों में सम्यक्त्व को ज्ञान की पर्याय नहीं बताया है—ज्ञान से भिन्न ही गुण कहा है।

अर्थव्यंजननामानौ पर्यायौ शास्त्रसम्मतौ।
पर्यायव्यंजने नास्ति सम्यक्त्वस्य स्वरूपकं १५६

अर्थ—शास्त्रों मे १ अर्थ २ व्यंजन नाम की २ प्रकार की पर्यायें बताई हैं। ये गुणों की पर्यायें हैं। उनमे व्यजन पर्याय सम्यक्त्व का स्वरूप नहीं हो सकती। क्योंकि:—

प्रदेशत्वगुणो भूयात् पर्यायो व्यंजनात्मकः।
प्रदेशत्वविकारो हि सम्यक्त्वं न भवेत् कदा १५७

उन दो प्रकार की पर्यायों मे व्यजन पर्याय प्रदेशत्व गुण का विकार नहीं हैं, अतः व्यजनात्मक सम्यक्त्व गुण नहीं है।

ज्ञाने व्यंजनपर्यायो न भवेत् भूतमेववा।
ज्ञाने तु चार्थपर्यायः सुशास्त्रे कथितो जिनैः १५८

अर्थ—ज्ञान गुण भी व्यजन पर्याय रूप न पहिले कभी हुआ है न होगा। ज्ञान गुण तो अर्थ पर्याय स्वरूप है ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

अर्थपर्यायरूपं तु सम्यक्त्वं भाषितं नहि।
क्षणविध्वंसनात् सो न नश्वरो जायते कथं १५९

अर्थ—सम्यग्दर्शन प्रदेशत्व गुण का विकार न होकर स्वतत्र गुण होने से व्यजन'पर्याय नहीं है यह बात

वता चुके हैं। अब यहां कहते हैं कि सम्यग्दर्शन अर्थ पर्याय स्वरूप भी नहीं है, क्योंकि अर्थ पर्याय नश्वर (क्षण क्षण में नाश होनेवाली) है और सम्यग्दर्शन अविनाशी गुण है अतः वह केवल अर्थ पर्याय नहीं हो सकता।

सम्यक्त्वञ्च चिरस्थायि द्वयो व्याप्तिः कथं भवेत्।
व्याप्यव्यापक हीनत्वात् तच्चिन्हञ्च भवेत् कथं १६०

अर्थ—सम्यक्त्व गुण तो सदा आत्मा में अनत काल तक रहने वाला है। उस अविनश्वर गुण की नश्वर पर्यायों से व्याप्ति नहीं वन सकती क्योंकि उनका परस्पर कोई सवन्ध नहीं है। उनमें परस्पर व्याप्य व्यापक भाव नहीं है जैसा वृक्ष और आम मे होता है आम वृक्ष व्याप्य है वृक्ष व्यापक है अतएव जहां आम होता है वह वृक्ष व्यापक का वोध अवश्य कराता है इस तरह सम्यक्त्व और पर्याय में व्याप्य व्यापक भाव नहीं है फिर कैसे अर्थ पर्याय सम्यक्त्व को वता सकती है।

शिष्य का प्रश्न—

श्रद्धानं ज्ञानपर्यायं केनापेक्षतया कथं।
मन्यते भवता स्वामिन् तत्वातत्वनिरूपक १६१

अर्थ—शिष्य कहता है:—हे तत्व अतत्व का उपदेश करने वाले स्वामिन्! आप किस दृष्टि से श्रद्धान (सम्यक्त्व लक्षण) को ज्ञान पर्याय कहते हैं।

आचार्य उत्तर देते हैं।

श्रद्धानं ज्ञानपर्यायं कथितं प्राग्यतीश्वरैः।
अर्थव्यंजनरूपाभ्यां भाषितं न हि ज्ञायते ॥१६२

अर्थ—हे शिष्य श्रद्धान ज्ञान की पर्याय है ऐसा पुरातन ऋषियों ने कहा है इसे अर्थ व्यजन दृष्टिसे वर्णन किया है। तुम इसे नहीं जानते।

श्रद्धानं ज्ञानपर्यायं बुद्धिस्थैर्यत्वरूपकं।
तत्वार्थाभिमुखो यो हि चित्परिणामभावकः १६३

अर्थ—श्रद्धान ज्ञान की पर्याय है क्योंकि बुद्धि मे किसी ओर दृढता आना ही श्रद्धान होता है। तत्वार्थ की तरफ उन्मुख परिणाम को श्रद्धान कहते हैं—वह तत्वार्थ उन्मुख परिणाम चैतन्य का उपयोग है इस दृष्टि से श्रद्धान ज्ञान ठहरता है।

श्रद्धानं कारणं भूयात् कार्यं स्वानुभवो भवेत्।
कार्यकारणभेदस्तु विद्यते चिन्हयो द्वयोः ॥१६४

अर्थ—श्रद्धान और स्वानुभूति मे श्रद्धान तो कारण है स्वानुभूति कार्य है। जहां कार्य होता है वहां कारण अवश्य होता है जहां कारण हो वहां कार्य हो भी, न भी हो। इसी तरह जहां स्वानुभूति है वहां सम्यक्त्व अवश्य होता है पर जहां सम्यक्त्व हो वहां स्वानुभूति उपयुक्त अवस्था में होती है लब्धि अवस्था में नहीं होती। इस प्रकार इन दोनों मे कार्य कारण भेद पाया जाता है।

तत्वार्थाभिमुखादेव जायते स्वानुभूतिका।
लक्षणयोर्द्वयोर्नास्ति विरोधः किंचिदप्यसौ १६५

अर्थ—स्वानुभूति तत्वार्थ रूप से (यथार्थ वस्तु के निश्चय पूर्वक) होती है। इन दोनों लक्षणों मे किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। क्योंकि स्वानुभूति तत्वार्थ श्रद्धान पूर्वक होती है तत्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है यह कारणापेक्षा से कहते हैं और स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण है वह कार्यापेक्षा से है इन दोनों लक्षणों में कार्यकारण भेद है।

तत्त्वार्थानां हि श्रद्धानं देवागमतपोभृतां।
शुद्धा स्वात्मानुभूतिर्वा लक्षणं सत्यमेव च १६६

अर्थ—शास्त्रों में तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। शुद्ध स्वात्मानुभूति सम्यग्दर्शन है इत्यादि जो अनेक लक्षण कहे है वे सब सत्य ठहरते है क्योंकि तत्वार्थ श्रद्धान और आत्म श्रद्धान एक ही बात है, सच्चे देव शास्त्र गुरु का स्वरूप और आत्म स्वरूप भी एक ही बात है। इस तरह ये तीनों लक्षण साक्षात् वा परंपरा से आत्म स्वरूप के ही दर्शक है अतः तीनों लक्षण ठीक ठहरते हैं।

आत्मानुभूति और ज्ञानानुभूति एक ही है यही बताते हैं।

आत्मानुभूतिरेव स्यात् ज्ञानानुभूतिसंज्ञका।
द्वयो र्न चांतरः किंचित् विद्यते परमार्थतः १६७

अर्थ—आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है यद्यपि सम्यक्त्व की सहभावि होने से आत्मानुभूति को सम्यक्त्व कहा है आत्मानुभूति ज्ञानानुभूति है क्योंकि दोनों में देशभिन्नपना नहीं है अनुभव विचार निश्चित वस्तु का होता है। वस्तु का निश्चय ज्ञान है अतएव आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति यथार्थ में हैं।

इसी बात को दिखाते-हैं।

म्यक्त्वाद्धि विनानैव ज्ञाने श्रद्धान लक्षणं ।
कार्यं किमपि नोभूयात् तन्मिथ्यादर्शनोदयात् १६८

अर्थ—ज्ञान जीव में सदैव होता है अन्यथा जीव का अभाव हो जावे। पर उस ज्ञान में सम्यक्त्व के विना श्रद्धान लक्षण कार्य मिथ्यादर्शन के उदय में नहीं होता। सम्यक्त्व विना ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं कहलाता अतः उसमें सम्यक श्रद्धानपना सम्यक्त्व विना नहीं होता। क्योंकि यथार्थ ज्ञान का श्रद्धान मिथ्यात्व में नहीं होता है विपरीतज्ञान या श्रद्धान होता है इस लिये स्वपर प्रकाशक ज्ञान का श्रद्धान जब होता है तब आत्म श्रद्धान भी होता है दोनों अभिन्न हैं।

दृङ्मोहोपशमे जाते ज्ञानं चान्तमुखं भवेत् ।
यदा स्वाभिमुखं भूयात् सच्छ्रद्धानं तदाभवेत् १६९

अर्थ—जब दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम हो जाता है तब वही ज्ञान जो परवस्तु की ओर ममता लिये होता था अपनी आत्मा की ओर होने लगता है और ज्ञान का अंतर मुख होता है। जब अपनी आत्मा की ओर अनुभव होने लगता है वही सम्यक् श्रद्धान है।

सम्यक्त्व के विना ज्ञान की क्या दशा होती है।

श्रद्धानेन विना ज्ञानं वर्तते नेति कथ्यताम् ।
मिथ्यात्व संयुतं चास्ति बाह्यार्थाभिमुखं भवेत् १७०

अर्थ—सम्यक्‌श्रद्धान हुये विना यथार्थ में ज्ञान-सम्यक् ज्ञान नहीं कहला सकता । मिथ्यात्व सहित जो ज्ञान होता है वह केवल बाह्य पदार्थों की ओर अयथार्थ रूप से होता है । इसलिये ज्ञान मे सम्यक्त्व पना सम्यग्दर्शन से ही आता है ।

मिथ्यात्वसंयुता बुद्धिः बाह्यार्थाभिमुखी भवेत् ।
तत्कालेपि न सच्छ्रद्धा श्रद्धाभासं हि कथ्यते १७१

अर्थ—जब जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है तब उसको ज्ञान का उपयोग आत्मा की ओर न लग कर परवस्तु की ओर ही जाता है उस समय समीचीन श्रद्धा नहीं हो पाती उस समय की श्रद्धा तो श्रद्धाभास कहलाती है ।

किंचित्कारण मासाद्य दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
निर्मलभावनायोगात् सच्छ्रद्धा जायते ध्रुवं १७२

अर्थ—कभी काल लब्धि आदि कारण के मिलने पर जब दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम हो जाता है तब

निर्मल भावना हो जाती है। निर्मल भावना होने से श्रद्धा सत्श्रद्धा हो जाती है।

श्रद्धारुचिप्रतीतीनां क्रमकालो निगद्यते।
नियमात् क्रमभावेन सर्वे ते ज्ञानपर्यया: ॥१७३

अर्थ—श्राद्धा, रुचि, प्रतीति यद्यपि इन तीनों का होना काल क्रम से है। पहिले किसी वस्तु में श्रद्धा होती है, श्रद्धा होने बाद रुचि (आत्मीयपणा) होती है। रुचि होने के बाद प्रतीति विश्वास होता है इस तरह ये क्रम से होती हैं फिर भी ये सब ज्ञान की पर्याय हैं। ज्ञान के ही विशेष २ अनुभव हैं।

सम्यक्त्वं स्वानुभूतिश्च समता ज्ञानचेतना।
स्वरूपांचरणं चेति सहकाले भवंति वै ॥ १७४

अर्थ—ज्योंही आत्मा में सम्यग्दर्शन पैदा होता है उसी समय स्वानुभूति ज्ञानचेतना (शुद्धज्ञान परिणति) स्वरूपाचरण, समता (शुद्ध चारित्र परिणति) ये सब साथ होती हैं अर्थात् जब आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है तब ही सम्यज्ञान होता है और शुद्ध स्वानुभूति या ज्ञान चेतना का होना प्रारंभ हो जाता है। इसी तरह मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबधी कषाय का नाश होने पर स्वरूपा

चरण चारित्र प्रकट हो जाता है तथा परम समता भाव आत्मा मे जाग उठता है इन तीनों की सहकाल होने से एकत्व अवस्था कहने में आती है।

स्वानुभूत्या समं संति चेच्छ्रद्धादिगुणा स्तदा ।
यथार्था हि भवंत्येते तद्विनाभासमात्रका: ॥१७५

अर्थ—स्वानुभूति के साथ होने से ही श्रद्धादिक आत्मा के गुण कहलाते हैं अन्यथा तो श्रद्धा भास या मिथ्या श्रद्धान हैं अर्थात् स्वानुभूति न हुई तो सब गुण बेकार है। बिन्दूओं के पहिले अंक न हुआ तो सब बिन्दुयें जैसे व्यर्थ होती है।

यदा स्वार्थानुभूत्यापि स्व तत्वनिश्चयं भवेत् ।
परार्थ निश्चयो पि स्यात् तदैव पर रूपत: ॥१७६

अर्थ—जिस समय आत्मा मे स्वानुभूति होती है और उससे शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, उसी समय, आत्मा से भिन्न पर वस्तुओं का पर रूप से अनुभव या निश्चय होता है। यही भेद विज्ञान है इसी भेद विज्ञान रूपी छैनी द्वारा अपने पराये का भेद होता है।

व्यवहारेण कथितं श्रद्धानात्मकलक्षणं ।
निश्चयेन स्वशुद्धात्मनिर्मलानुभवो भवेत् १७७

अर्थ—वस्तु का या आप्त आगम गुरु का यथार्थ श्रद्धान यह तो सम्यक्त्व का बाह्य लक्षण है व्यवहार कथन है यथार्थ में निश्चय नय से अपनी शुद्ध आत्मा को निर्मल अनुभव ही सम्यक्त्व होता है।

व्यवहारसुसम्यक्त्वं साधको जायते पुनः।
निश्चयात्मकसम्यक्त्वं निर्विकल्पनिजात्मकं १७८

अर्थ—व्यवहार सम्यक्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है व्यवहार में सात तत्व सच्चे आप्तागम गुरुओं का श्रद्धान तत्स्वरूप आत्म अनुभव करते हुये निश्चय सम्यग्दर्शन भी होने की संभावना रहती है। वह निश्चय सम्यग्दर्शन सब प्रकार के विकल्पों से रहित और निज-स्वरूप है।

निश्चय सम्यग्दर्शन ही जीव के लिये साध्य है यही बताते हैं।

साध्यमेव भवेन्नित्यं निश्चयात्मानुभूतिकं।
कार्यकारणभाव स्तु विद्यते परमात्मनि ॥ १७९

अर्थ—वह निश्चय सम्यग्दर्शन ही जीव के लिये साध्य है इस प्रकार उस परमात्म स्वरूप निश्चय सम्य-

रदर्शन मे कार्य कारण भाव है। अर्थात् व्यवहार सम्यक्त्व कारण है, निश्चय सम्यक्त्व कार्य है।

यदा यदा तु सम्यक्त्वं जायते सुखदायकं।
तदा तदा तु श्रद्धानपूर्वकं परमात्मनि ॥ १८०

अर्थ—इस तरह जब आत्मामें सुख देनेरुप सम्यक्त्व पैदा होता है वह सम्यक्त्व श्रद्धान पूर्वक ही होता है बिना श्रद्धान के आत्मामें परमात्मा भाव प्रगट नहीं हो सकते।

ज्ञानस्य संक्रमणं तु छद्मस्थानां हि विद्यते।
बाह्यार्थात्तु यदा स्वार्थे रीत्या गच्छति चानया।१८१

अर्थ—छद्मस्थ जीवों के इस प्रकार ज्ञान का संक्रमण हो जाता है अर्थात् वे बाह्य पदार्थ का पर श्रद्धान (भेद विज्ञान) व्यवहार चिंतन करते २ इस रीति से आत्मा (स्वपदार्थ) में तन्मय हो जाते हैं।

भावार्थ—पूर्ण ज्ञानी के सम्यक्त्व उपयोग रूप ही रहता है पर अल्पज्ञानियों के ज्ञान में व्यवहार से निश्चय परिणति हीनरूप संक्रमण भी होता है।

संशयो ज्ञानमर्थाणां द्विकोटि स्पर्शनं भवेत्।
नरो वा स्थाणुरित्यादि सादृश्यात् कल्पना द्वयं १८१

अर्थ—इस प्रकार व्यवहार से निश्चय सक्रमण रूप ज्ञान में सशय नहीं है। क्योंकि सशय पदार्थों की सदृशता वश दोनों कोटी को स्पर्श करने वाला ज्ञान होता है। जैसे दूर से एक ऊँची वस्तु जिसमें लकड़ी का ठूठ और पुरुष दोनों का एक समय विचार हो सकता है, उसे देख कर स्थाणु है या पुरुष ऐसा ज्ञान करना सशय है।

निश्चयाभावतस्तस्य चलत्वात् दोषकारकं।
कल्पना विद्यते यत्र न तत्र निश्चयो भवेत्।१८३

अर्थ—सशय ज्ञानमें निश्चय नहीं होता क्योंकि दोनों तरफ ज्ञान होता रहता है अतएव ऐसा सशय ज्ञान दोष कारक है। जहां एक साथ दोनों ओर कल्पना होती रहती है वहाँ निश्चय नहीं हो सकता। अर्थात् चल रहता है चलाचल या स्थिर नहीं होता संशय सम्यक्त्व नहीं है यह बताते हैं।

कल्पना विविधा यत्र जायंते खलु बोधने।
सच्छ्रद्धानं न तत्रास्ति वस्तुनिश्चयनाशनात्

अर्थ—जहाँ ज्ञान में तरह तरह की कल्पनायें होती है वहां वस्तु का निश्चय नहीं हो पाता। ठीक निश्चय के हुये विना सम्यक्त्व भी नहीं हो सकता। क्योंकि वस्तु

के वस्तु रूप दृढ श्रद्धान बिना सम्यक्त्व का होना असंभव है।

विरुद्धकल्पनाहीनं ज्ञानं श्रद्धानरूपकं।
सत्यं सम्यक्त्वचिन्हं हि स्वार्थसाधनकारकं १८५

अर्थ—अनेक प्रकार की विरुद्ध कल्पनाओं से हीन सम्यक् श्रद्धान रूप जो ज्ञान होता है, वही सत्य है। वही सम्यक्त्व का चिन्ह है, वही अपने असली प्रयोजन को सिद्ध करने वाला है। यदि संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान होगया तो भी यथार्थ नहीं होता है और आत्मा का यथार्थ दृढ़ श्रद्धान न हुआ तो सब व्यर्थ है। अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था में स्व और पर दोनों पदार्थों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है।

स्वार्थाभिमुखसद्बुद्धि र्निश्चिता निर्विकल्पका।
सच्छ्रद्धानं तदेव स्यात् नान्यथा दोषकारणात् १८६

अर्थ—जो ज्ञान या श्रद्धान अपनी आत्मा की ओर होता है अर्थात् जिसमें स्वात्मानुभव होता है वही सम्यग्ज्ञान है, निश्चित् है विकल्पातीत है; समीचीन श्रद्धान वही है। अन्य प्रकार (इसके बिना) से सम्यक् श्रद्धान

नहीं हो सकता। क्योंकि वह आत्मा में दोष का कारण है।

सम्यक्त्व विपरीत ज्ञान भी नहीं है यह दिखाते हैं—

विपरीतं हि तज्ज्ञानं श्वेतशुक्तौ तथैव च।
रजतनिश्चयो यत्र दृङ्मोहोदयकारणात् ॥ १८७

अर्थ—सफेद सीपी में सादृश्यवश चाँदी का ज्ञान करना विपरीत ज्ञान है यह विपरीत ज्ञान भी (पर वस्तु में आत्मा समझना) दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से होता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि भी दृष्टि मंदता से सीप में चांदी का ज्ञान कर सकता है पर उसका ज्ञान वाह्य या लोक में अयथार्थ या विपरीत होते हुये भी आत्मा में विपरीत पना कभी नहीं होता पर को आत्मा नहीं समझता आत्मा को पर नहीं समझता अतएव वाह्य में विपरीत होते हुये भी निश्चय से उसका ज्ञान सम्यज्ञान ही रहता है। पर मिथ्या दृष्टि के दृष्टि आदि ठीक होते हुये भी वाह्य ज्ञान ठीक होने पर भी अपने में विपरीत बुद्धि करता है यही दिखाते हैं—

अधर्मे धर्मबुद्धिःस्यात् अतत्वे तत्वनिश्चयं।
अदेवे देवता यत्र भवेन्निश्चयता तथा ॥ १८८

अर्थ—मिथ्या दृष्टि अधर्म में धर्म समझता है। अतत्व को तत्व जानता है। अदेव में देव बुद्धि करता है। अनात्म में आत्मा समझता है यही उसकी विपरीतता है बिना इसके दूर हुये उसे सम्यक्त्व नहीं हो सकता सम्यक्त्व अनध्यवसाय भी नहीं है यही दिखाते हैं।

तदनध्यवसायं च यत्र तद्रूपनिश्चयं।
विपरीतं संशयं नास्ति किमप्यस्तित्व रूपकं १८६

अर्थ—सम्यक्त्व अनध्यवसाय भी नहीं है क्योंकि अनध्यवसाय में ज्ञान तो होता है पर न तो संशय होता है, न विपरीत पना होता है किन्तु "होगा" इस प्रकार अज्ञानतामय भाव होता है। जैसे मार्ग में जाते हुये कोई वस्तु दीखने पर यह सीप है या चांदी यह तो संशय ज्ञान है। सीप को चांदी समझना विपरीत ज्ञान है। और कुछ न समझ "होगा" इस प्रकार का भाव होना अनध्यवसाय है। सम्यक्त्व में यह भाव नहीं होता। वहां तो आत्मा का आत्मारूप से दृढ़ निश्चय होता है अतः सम्यक्त्व भाव संशय विपर्यय अनध्यवसाय तीनों दूषित ज्ञानों से रहित है। सम्यग्ज्ञान का सहचारी है।

मिथ्याकर्मोदयादेते भवंति संशयादयः ।
मिथ्यात्वेनसमं व्याप्तिः कार्यकारणसाधका १६०

अर्थ—ये संशय विपर्यय अनध्यवसाय आदि मिथ्यात्व के उदय से होते हैं, स्वयं मिथ्यात्व हैं और मिथ्यात्व के ही साधक हैं। इनकी मिथ्यात्व के साथ ही व्याप्ति है। अतः ये मिथ्यारूप होकर मिथ्यात्व कार्य कर्त्ता हैं।

स्वानुभूतिसनाथेन श्रद्धानेन विना यदा ।
जीवो परपदार्थस्य चाभिमुख्यो भवेत्तदा ॥१६१

अर्थ—जब जीव को अपनी अनुभूति नहीं होती है तब उसका श्रद्धान विपरीत होता है, और जीव अंतर्मुख न होकर बहिर्मुख होता है, परपदार्थों में रमण करता है यह सब मिथ्यात्व कर्म का फल है।

बाह्यार्थालंबिनोप्येते तदा वै संशयादयः ।
स्वापूर्वार्थविमुखत्वात् मिथ्याश्रद्धानसाधकाः

अर्थ—ये संशय विपरीत आदिक अज्ञान भाव सदा आत्मा को छोड़ कर पर पदार्थ का आलंबन करने वाले हैं। स्वात्मीय और अपूर्व अर्थ के ज्ञान विना (भेद विज्ञान विना) ये मिथ्यात्व के ही साधक हैं।

सम्यक्त्व का स्वरुप ।

स्वापूर्वार्थस्वरूपेन श्रद्धानं जायते यदा ।
श्रद्धानं ग्राह्यमेवस्यात् स्वानुभूते र्हि साधकं १९३

अर्थ—जब अपने का निज रूप से, पर का पर रूपसे श्रद्धान होता है वही श्रद्धान ग्रहण करने योग्य होता है, वही स्व पर का भेद विज्ञान स्वानुभूति का साधक है ।

सम्यक्त्व के सहकारी गुण ।

सम्यक्त्वेन समं चान्ये वर्तंते प्रशमादयः ।
तद्विनाते गुणाभासाः कथ्यते विपरीतकाः॥१९४

अर्थ—प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य आदि गुण सम्यक्त्व के साथ ही होते हैं। सम्यक्त्वी के ये गुण सम्यक्त्व के साथ ही होते हैं, पर ये यदि सम्यक्त्व के बिना हों तो गुणाभास कहलाते हैं । अर्थात् इन गुणों की सम्यक्त्व के साथ कोई व्याप्ति नहीं है, मिथ्यात्वी के भी ये हो सकते हैं—पर सम्यक्त्व बिना होने से इन्हें गुणा-भास कहना चाहिये ।

गुणा चास्तिक्यसंवेगसुप्रशमानुकंपनाः ।
एतेषां पृथगुल्लेखं कथ्यते पूर्वशास्त्रतः ॥ १९५

अर्थ—सम्यक्त्व के होने पर सहज होने वाले प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य गुणों का पृथग् २ स्वरूप पूर्व शास्त्रों के अनुसार आगे कहा जाता है।

आस्तिक्य गुण का वर्णन।

आस्तिक्यं नाम सर्वेषां षड्द्रव्यानां हि विद्यते।
जीवादि सप्त तत्वानां चास्तित्वं परमार्थतः १९६

तथानवपदार्थानां पंचास्तिकायका मताः।
जीवानां हि पुनर्जन्म स्वर्गमोक्षादिनिश्चयः १९७

अर्थ—१ जीव ५ अजीव (पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल) इन छः द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप मानना आस्तिक्य है। जीव अजीव आश्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष इन सात तत्वों का ठीक २ स्वरूप समझना आस्तिक्य है। सात तत्व और पुण्य पाप इन नव पदार्थों का श्रद्धान करना आस्तिक्य है। पांच अस्तिकाय का जीवों के पुनर्जन्म का स्वर्गमोक्षादि का विश्वास करना आस्तिक्य है।

भावार्थ—जीव अजीव के ठीक २ श्रद्धान से भेद विज्ञान होता है। सात तत्वों में जीव निजवस्तु है अजीव परवस्तु है आश्रव से जीव बंध को प्राप्त होता है बंध

से वधता है सवर निर्जरा मोक्ष ये परवस्तु के सबंध दूर करते हैं अतः इनका श्रद्धान आस्तिक्य है। स्वर्ग मोक्ष पुनर्जन्म आदि सब जीव के सिद्ध करने के उपाय हैं अतः आस्तिक्य बुद्धि वाले को इनका मानना आवश्यक है।

शुभाशुभमयाद्योगात् सुगति दुर्गति र्भवेत ।
शुद्धयोगाद्धिमोक्षस्य गतिः शुद्धनयात्मिका १६८

अर्थ—उपयोग ३ प्रकार है। १ अशुभोपयोग २ शुभोपयोग ३ शुद्धोपयोग। इनमें अशुभोपयोग (अशुभ चिन्तन) से जीव को नरकादि अशुभगति मिलती है। शुभोपयोग (शुभ धर्मादि चिन्तन) से सुगति स्वर्गादिक मिलते हैं। शुद्धोपयोग (आत्मा की शुद्ध एकत्व परिणति) से मोक्ष मिलता है। यह शुद्धोपयोग ही शुद्ध नय का विषय है।

स्वरूपहेतुभेदाद्यभेदरूपविपर्ययंतां ।
त्यक्त्वास्तिक्यं यथार्थेन मन्यते जिनभाषितं १६९

अर्थ—स्वरूपविपर्यय (वस्तु के स्वरूप को ठीक न समझना) हेतु विपर्यय (वस्तु के कारणों को ठीक न समझना भेद, विपर्यय (भेद को उल्टा समझना) अभेद विपर्यय (एकत्व को अयथार्थ समझना) इनको छोड़

कर जो वस्तुयें यथार्थ बुद्धि होती है वही निजभगवान ने यथार्थ में आस्तिक्य कहा है । जब तक वस्तु के स्वरूपमें कारण में भेद में अभेद में विपरीतता होगी तब तक वस्तु का ठीक बोध नहीं होगा ।

दृङ्मोहोपशमादेव यथार्थास्तित्वभावना ।
विद्यतेपरमार्थेन महामोहाद्धि चान्यथा ॥ २००

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम होने से ही जीव में यथार्थ अस्तित्व भावना होती हैं । यदि दर्शन मोह का उपशम न हो तो जीव में सम्यक् अस्तित्व पना नहीं हो सकता । जब जड़ में ही मिथ्यापन होगा तो समस्त वस्तु उलटी ही प्रतीत होगी ।

मोहोदयेन विद्वद्भिः मिथ्यास्तित्वं हि मन्यते ।
श्रद्धानाभावतो ज्ञेयं सत्यास्तित्वं तदन्यथा २०१

अर्थ—मोह के उदय से ज्ञानीजन मिथ्या अस्तित्व मानते हैं क्योंकि उस समय ठीक श्रद्धान नहीं होता मोह के उपशम होते ही वह अस्तित्व सम्यक् अस्तित्व हो जाता है ।

अब संवेग गुण का वर्णन करते हैं:—

संवेगो नाम सद्धर्मे तत्फले रुचिरेव च ।
अधर्माद्विमुखं चैव शुद्धात्मानुभवेरतिः ॥ २०२

अर्थ—संवेग नाम सम्यक्त्व का दूसरा गुण है। इससे समीचीन धर्म में, धर्म के फल में रुचि पैदा हो जाती है। अधर्म से जीव विमुख रहता है शुद्धात्मानुभव से प्रेम करने लग जाता है।

दृङ्मोहोदयोगाद्धि कुधर्मे तु रुचिर्भवेत् ।
न भवेत्तत्रसंवेगः इत्येवं जिनभाषितं ॥ २०३

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म के कारण जीव की अधर्म में रुचि हुआ करती है इस कारण जब तक दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहेगा, तब तक संवेग गुण नहीं हो सकता ऐसा जिन भगवान ने कहा है।

निर्वेग गुण का कथनः—

निर्वेगो नाम तस्यैव दृङ्मोहोपशमात्तथा ।
प्रतिषेधमुखादेव कथ्यते जिनयोगिभिः ॥ २०४

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीव में निर्वेग नाम का गुण नहीं होता। यह निर्वेग गुण संवेग गुण का प्रतिपक्ष रूप में कथन करना है। अर्थात् निर्वेद गुण में संसार से विरक्ति धर्म धर्मफल में रति होती है।

प्रशम गुण का वर्णन।

प्रशमोपि भवेन्नाम दृङ्मोहोपशमेन च।
तद्विना प्रशमो नास्ति चान्यानां कर्मणां शमात् २०५

अर्थ—प्रशम नाम का सम्यक्त्वी का गुण है यह भी दर्शन मोहनीय के उपशम से होता है। और कर्म चाहे कितने कम हो जांय पर दर्शन मोहनीय के उपशम बिना प्रशमता आत्मा मे नहीं होती जैसा प्रवचन सार में भगवान् कुन्द कुन्द ने कहा है "मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणोहुसमो" मोह और क्षोभ (योग की चचलता) से रहित जो आत्मा का परिणाम है वही शम या प्रशम गुण है।

अब अनुकपा गुण का वर्णन किया जाता है अनुकपा जीवों पर दया पालने के परिणाम को कहते है— उसके भेद बताते हैं।

अनुकंपापि द्विधा भूयात् स्वपरभेदतः पुनः।
स्वानुभूत्यात्मरूपा या स्वानुकंपा मता च सा २०६

अर्थ—वह अनुकपा २ प्रकार है। १ स्व अनुकपा २ पर अनुकपा। इनमें जो स्वानुभूति को लिये हुये होती है वह स्वानुकंपा है। क्योंकि जितने समय जीव स्वानुभव

करेगा उतने समय जीव मे रागद्वेषादि विकार या विभाव परिणाम न होंगे। आत्मा मे विकृति न होना ही परम दया है जैसा भगवान् अमृतचद्र सूरि ने कहा है:—

सर्वतोसिद्धमेवैतत् कृपावाह्यं दयांगिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥

अर्थ—सारे धर्म का सार यही है कि अन्य प्राणियों पर दया करना वाह्य दया है, अपनी अंतरग कषायों का त्याग करना अतरग दया है यही दया कार्यकारी है सबसे प्रथम अपना उपकार करो अपने पर दया करो जैसा कहा है:—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कं पर हिदं च कादव्वं।
आद हिद पर हिदादो आद हिदं सुट्ठु कादव्वं॥

अर्थ—आत्मा का हित सर्व प्रथम करना चाहिये यदि हो मके तो औरों का भी उपकार करो, पर आत्म-हित और पर हित मे आत्म हितसर्व श्रेष्ठ है।

वाह्य अनुकपा का वर्णन—

अनुकंपा क्रिया ज्ञेया सर्व प्राणिस्वनुग्रहा।
दुःखितानां हि जीवानां बुद्धि दुःख विमोचना।२०७

अर्थ—समस्त ससार के प्राणिमात्र पर अनुग्रह बुद्धि रखना, अर्थात् ससार दुख से दुःखित जीवों पर

दुःख से छुडाने की बुद्धि रखना अनुकपा जैसा अनागार धर्मामृत में कहा है—

श्रेयोमार्गानभिज्ञान् भवदुखगहने
जाज्वलदुःखदावान् ।
स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणानतिचकितमिमा
नुद्धरेयं वराकान् ॥
इत्यारोहत्प्रगुणा विलसत्भावनोपात्त पुण्यैः ।
प्रक्रांतैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान्
शास्तियोऽर्हन् स नोऽव्यात् ॥

अर्थ—कल्याण मार्ग को न जान कर ससार के भयानक दुःखरूपी वनमें जलते हुये इन विचारे दुखिया जीवों का किस तरह उद्धार हो जाय इस प्रकार दुख मोचन की भावना जिनकी सदा रहती है वे अर्हन्त हमारी रक्षा करें।

कारुण्यात्करुणाभावः सर्वसंक्लेशनाशकः ।
तं भावं दया नाम प्राणिरक्षणभावना । २०८

अर्थ—करुणा भाव करुणा भावना से होता है यह भाव सर्व संक्लेश (दुःखमयी) भाव को नाश करनेवाला

है। इसी को दया शब्द से कहते हैं। यही जीवों की रक्षणात्मक भावना है।

यत्र यत्र हि सम्यक्त्वं वर्तते स्वानुकंपना।
समव्याप्ति द्वयोस्तस्माद् तदेवोपासनीयतां २०९

अर्थ—जहां जहां सम्यक्त्व होता है वहां वहां स्वानुकपा या सत्वानुकपा अवश्य होती है। इन दोनों में सम व्याप्ति है इसलिये उन सब के कारणीभूत सम्यक्त्व की ही उपासना करना चाहिये।

निश्चय अनुकंपा का स्वरूप।

स्वगुणाणां सुरक्षा या स्वानुकंपा भवेच्चसा।
स्वरूपाचरणचारित्रमयी निःशल्यकारणात्। २१०

अर्थ—अपने आत्मीय गुणों की रक्षा करना, उनमें विकार भाव न होने देना यही सच्ची अनुकपा है ऐसी अनुकपा स्वरूपा चरण चारित्र स्वरूप, अर्थात् आत्मा की स्वानुभूति समय होती है क्योंकि उस समय आत्मा में किसी प्रकार की कोई शल्य नहीं होती। शल्य तो पर वस्तु है। आत्मा स्वानुभूति में अपने में रमण करता है।

स्वस्यात्मनो दया यत्र स्वगुणशुद्धिकारका ।
स्तूयते सा हि संसार स्तृतेः वैराग्यकारणात् ।२११

अर्थ—जहां पर अपनी आत्मा पर दया है वहीं पर अपनी आत्मा के गुण शुद्ध होते हैं। वही अनुकपा समार से जीव को वैराग्य दिलाने वाली या उद्धार करने वाली है इसी लिये ससार में श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा स्तवन की जाती है।

स्वानुकंपा युता या च परानुकंपना भवेत् ।
सापि स्तुत्या भवारण्ये सर्वेषां सौख्यकारिका २१२

अर्थ—अपनी आत्माकी अनुकपा पूर्वक जो पर द्रव्यों पर अनुकपा की जाती है अर्थात् आत्म गुणों का घात न कर दूसरों पर जो दया भाव किया जाता है वह भी प्रशसनीय है। वही सब जीवों को सुख का करने वाला है।

स्वानुकंपा विना यत्र परानुकंपना भवेत् ।
शल्ययोगात् सदा त्याज्या मिथ्यात्वभावनायुता:

अर्थ—स्वानुकपा के विना जहां परानुकपा होती है, अर्थात् जो जीव अपने आत्मिक गुणों की रक्षा न कर

दूसरों की रक्षा में लगता है वह अनुकंपा मिथ्यात्वादिक शल्य को बढाने वाली है अतः सदा त्याज्य है क्योंकि आत्मीक भावना से विमुख मिथ्या भावना संयुक्त है।

मिथ्याशल्ययुता यत्र परानुकंपना भवेत्।
कर्मबंधाय सा प्रोक्ता संसारातपदायिका ।२१४

अर्थ—मिथ्या शल्य सहित अर्थात् आत्म गुणों का रक्षण न करते हुये जो पर के ऊपर अनुकंपा की जाती है वह संसार के दुख को देने वाली है और कर्म-बंध को करने वाली है—संसार में भटकाने वाली है इसी लिये महा पुरुष पहिले अपनी आत्मा को शुद्ध करते हैं—अन्य जीवों का तो यदि काल लब्धि निकट हो तो उनके निमित्त से अपने आप कल्याण हो जाता है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूता दया स्वपरशुद्धिदा।
तत्पूर्विका दया सेव्या भव्यलोकहितंकरा ।२१५

अर्थ—जो दया सम्यक्त्व के साथ अविनाभूत है अर्थात् सम्यक्त्व होने पर होती है वह स्व और पर दोनों की शुद्धि करने वाली है, स्व स्वरूप की प्राप्ति करनेवाली है। अतएव सम्यक्त्व पूर्वक दया को ही सदा पालना चाहिये यही भव्य पुरुषों के हित को करने वाली है।

सर्वजीवेषु या मैत्री यत्र शुद्धनयात्मिका।
शुद्धस्वरूपसद्दृष्टि भवेत् कल्याणकारिका ।२१६

अर्थ—संसार के समस्त जीवों पर जो मैत्री भाव समताभाव (व्यवहार से दुःख उन्मोचनपना से निश्चय आत्मवत् मत्र को देखना) होता है वही शुद्ध निश्चय का विषय है वही शुद्ध स्वरूप दृष्टि है और वही कल्याण करने वाली है।

॥ अन्त्य मंगलाचरण ॥

स्वानुभूत्यात्मकंचिन्हं समता शांति संयुतं।
सम्यक्त्वं चिन्मयानन्दं हृदये धारयाम्यहं।२१७

जिसका लक्षण स्वानुभूति है समता और शान्ति से संयुत है चिन्मयानन्द को देने वाला है ऐसा जो सम्यक्त्व है उसको मैं भक्तिभाव से हृदय में विराजमान करता हूँ।

शाके दशाष्टशतके त्रिषष्ट्याधिक संयुते।
चातुर्मासे मया पूर्णः शुभे रोहतके कृतः।२१८

शके १८६३ वर्ष में रोहतक चातुमास मे इस पुस्तक को मैंने पूर्ण किया है।

जैन सराय मोहल्ले श्री महावीर मन्दिरे।
नत्वा वीरजिन भक्त्या सम्पूर्णं कृतवानहम्।२१६।

अर्थ—श्री १००८ महावीर मन्दिर मोहल्ला सराय जिन मन्दिरस्थ श्री भगवान महावीर तीर्थंकर को नमस्कार करके इस ग्रन्थ को मैंने पूर्ण किया।

❀ मंगलं महा शुभम् ❀